अपरिचिता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुक्रमणिका

अपरिचिता

आज मेरी उम्र सिर्फ सत्ताईस साल की है। यह जीवन न तो लम्बाई के हिसाब से बड़ा है और न गुण के। फिर भी इसका एक विशेष मूल्य है। यह उस फूल की तरह है, जिसकी छाती पर भ्रमर आकर बैठा था, और उसके पदाक्षेप का इतिहास जिसके जीवन के मध्यस्थल में फल का बीजारोपण कर चुका है। वह इतिहास छोटा है—उसे छोटा ही बनाकर लिखूँगा। जो लोग छोटे को मामूली समझने की गलती नहीं करते वे ही इसका रस समझेंगे।

कालेज में जितनी परीक्षाएँ पास की जा सकती हैं, मैंने सब खत्म कर ली है। बचपन में मेरे सुन्दर चेहरे की सेमल के फूल आदि से तुलना करके मजाक करने का सुयोग पाठशाला के पण्डित जी को मिला था। इस बात से उस समय मुझे बहुत संकोच होता था—किन्तु उम्र बढ़ने पर सोचता हूँ कि यदि जन्मान्तर हो तो मेरे चेहरे पर सुरूप और पंडित जी के चेहरे पर विद्रूप फिर ऐसा ही प्रकट हो।

मेरे पिता कभी गरीब थे। वकालत से उन्होंने बहुत पैसा कमाया, किन्तु भोग करने का समय क्षण भर भी नहीं पा सके। उनकी मृत्यु के समय मेरी उम्र कम थी। माँ ने मुझे पाल-पोसकर बड़ा किया। माँ गरीब घर की लड़की थीं, इसीलिये इस बात को न तो वे ही भूल सकीं और न मुझे ही भूलने दिया कि हम लोग धनी हैं। छुटपन से गोद ही गोद में मैं बड़ा हुआ हूँ—शायद इसीलिए अन्त तक मैं पूरी तौर से बड़ी उम्र का हो ही नहीं पाया। आज भी मुझे देखने पर मालूम होता है कि मैं अन्नपूर्णा की गोदी में बैठा हुआ गजानन का छोटा भाई हूँ।

मेरे असली अभिभावक मेरे मामा हैं। वे उम्र में ज्यादा से ज्यादा मुझसे छः साल बड़े होंगे। किन्तु फल्गु नदी की रेती की तरह उन्होंने

अपरिचिता

आज मेरी उम्र सिर्फ सत्ताईस साल की है। यह जीवन न तो लम्बाई के हिसाब से बड़ा है और न गुण के। फिर भी इसका एक विशेष मूल्य है। यह उस फूल की तरह है, जिसकी छाती पर भ्रमर आकर बैठा था, और उसके पदाक्षेप का इतिहास जिसके जीवन के मध्यस्थल में फल का बीजारोपण कर चुका है। वह इतिहास छोटा है—उसे छोटा ही बनाकर लिखूँगा। जो लोग छोटे को मामूली समझने की गलती नहीं करते वे ही इसका रस समझेंगे।

कालेज में जितनी परीक्षाएँ पास की जा सकती हैं, मैंने सब खत्म कर ली है। बचपन में मेरे सुन्दर चेहरे की सेमल के फूल आदि से तुलना करके मजाक करने का सुयोग पाठशाला के पण्डित जी को मिला था। इस बात से उस समय मुझे बहुत संकोच होता था—किन्तु उम्र बढ़ने पर सोचता हूँ कि यदि जन्मान्तर हो तो मेरे चेहरे पर सुरूप और पंडित जी के चेहरे पर विद्रूप फिर ऐसा ही प्रकट हो।

मेरे पिता कभी गरीब थे। वकालत से उन्होंने बहुत पैसा कमाया, किन्तु भोग करने का समय क्षण भर भी नहीं पा सके। उनकी मृत्यु के समय मेरी उम्र कम थी। माँ ने मुझे पाल-पोसकर बड़ा किया। माँ गरीब घर की लड़की थीं, इसीलिये इस बात को न तो वे ही भूल सकीं और न मुझे ही भूलने दिया कि हम लोग धनी हैं। छुटपन से गोद ही गोद में मैं बड़ा हुआ हूँ—शायद इसीलिए अन्त तक मैं पूरी तौर से बड़ी उम्र का हो ही नहीं पाया। आज भी मुझे देखने पर मालूम होता है कि मैं अन्नपूर्णा की गोदी में बैठा हुआ गजानन का छोटा भाई हूँ।

मेरे असली अभिभावक मेरे मामा हैं। वे उम्र में ज्यादा से ज्यादा मुझसे छः साल बड़े होंगे। किन्तु फल्गु नदी की रेती की तरह उन्होंने

सारे संसार को अपने भीतर सोख लिया। उनको खाद बिना यहां
एक चुल्लू रस भी नहीं मिल सकता। इसी कारण मुझे चिन्ता करनी
नहीं पड़ी।

कन्या के पिता-मात्र स्वीकार करेंगे कि मैं सुपात्र हूँ। तम्बाकू त
नहीं पीता। भला आदमी होने में कोई झंझट नहीं है, इसीलिए
अत्यन्त भला आदमी हूँ। माता की आज्ञा मानकर चलने की क्षम
मुझमें है—असल में नहीं मानने को सामर्थ्य ही मुझमें नहीं है। अन्त
पुर के शासन में रहने लायक ही मुझे बनाया गया है—कोई कन्या य
स्वयंवरा हो तो वह इस सुलक्षण की बात को याद रख सकती है।

बहुत बड़े-बड़े घरों से मेरे विवाह की बात आई थी, लेकिन माम
जो मेरे भाग्य-देवता के प्रधान एजेन्ट थे, उनका विवाह के सम्बन्ध
एक विशेष मत था। धनी कन्या उन्हें पसन्द नहीं। हमारे घर में
लड़की आयेगी, वह सिर झुकाकर आयेगी यही वे चाहते हैं और फिर
रुपये के प्रति आसक्ति उनके हाड़-माँस में समायी हुई है। वे ऐसा सम
चाहते हैं, जिसके पास रुपया तो न हो, लेकिन जो रुपया देने में क
कसर न रखे।

मेरा मित्र हरीश कानपुर में काम करता है। छुट्टी में कलकत्ते आ
उसने मेरा मन चंचल कर दिया। बोला, "भाई, लड़की यदि चाहते
तो लाख में एक है।"

कुछ दिन पहले मैंने एम० ए० पास किया है। सामने जितनी-
तक नजर जाती है छुट्टी ही छुट्टी नजर आती है। इम्तहान नहीं, उम्मी
वारी नहीं, नौकरी नहीं, अपनी ओर देखने की चिन्ता भी नहीं, शि
भी नहीं, इच्छा भी नहीं,—होने के नाम पर भीतर हैं माँ और बाहर
मामा। इस अवकाश की मरुभूमि में मेरा हृदय उस समय नारी-रूप
मरीचिका को ही देख रहा था। आकाश में उसी की दृष्टि, हवा में उ
की साँस और वृक्षों की मरमर ध्वनि में उसी का गुप्त संदेश।

इसी बीच हरीश ने आकर कहा, "लड़की यदि चाहते हो तो—

मेरा तन और मन वसन्त की वायु से कांपता हुआ नवान पल्लव-राशि की भाँति झूमने लगा। हरीश रसिक आदमी है। रस देकर वर्णन करने की शक्ति उसमें है और मेरा मन था तृषार्त्त। मैंने हरीश से कहा, "एक बार मामा से बात चलाकर देखो न !"

हरीश सभा जमाने में अद्वितीय है, इसीलिए सर्वत्र उसका सम्मान है। मामा भी उसे पाने पर छोड़ना नहीं चाहते। उनकी बैठक में बात-चीत चली। उनके लिए लड़की की अपेक्षा लड़की के बाप की खबर ज्यादा महत्वपूर्ण थी। बाप की अवस्था ठीक वैसी ही है जैसी वे चाहते हैं। एक जमाना था जब इनके घर में लक्ष्मी का मंगल-घट भरा था। इस समय वह प्रायः शून्य है, फिर भी निचले तले में अभी कुछ बाकी है। अपने प्रदेश में रहकर वंश-मर्यादा बचाकर चलना सहज नहीं होता है, इसीलिए वे परिश्रम से वास करते हैं। वहाँ गरीब गृहस्थ की तरह ही रहते हैं। एक लड़की के सिवा और कोई नहीं, इसीलिए उसके पीछे लक्ष्मी के सारे घड़े को उलट देने में उन्हें कोई संकोच नहीं होगा।

ये सारी बातें अच्छी हैं। किन्तु लड़की की उम्र पन्द्रह साल की हो गई है, यही सुनकर मामा का मन भारी हो गया। खानदान में कोई दोष तो नहीं है? नहीं, दोष नहीं है; सिर्फ इतनी ही बात है कि पिता कहीं अपनी लड़की के योग्य वर नहीं खोज सके हैं। एक तो वर का हाट महँगा है, फिर धनुष्भंग जैसा दहेज है, इसीलिए बाप तो केवल सब्र किये जा रहे हैं, लेकिन लड़की की उमर सब्र नहीं कर रही है।

जो हो, हरीश की सरस रसना में गुण है। मामा का मन नरम हुआ, विवाह की भूमिका का भाग निर्विघ्न समाप्त हुआ। कलकत्ते के बाहर पृथ्वी का जितना अंश है, सबको मामा अंडमान द्वीप के अन्तर्गत ही जानते हैं। जीवन में किसी विशेष काम से वे एक बार कोन् नगर (कल-कत्ते से सटा हुआ छोटा-सा उपनगर) तक गये थे। मामा अगर मनु होते तो हबड़ा के पुल के उस पार जाने को अपनी संहिता में एकदम निषिद्ध कर देते। मन में इच्छा थी कि एक बार स्वयं लड़की देख आऊँ,

किन्तु हिम्मत करके कह नहीं सका। कन्या को "आशीर्वाद देने" के लिए जिन्हें भेजा गया है, वे हैं हमारे बीनूदा, मेरे फुफेरे भाई। उनके मत, रुचि और दक्षता पर मैं सोलह आने भरोसा कर सकता हूँ। बीनूदा ने लौटकर कहा, "खराब नहीं है, असली सोना है!" बीनूदा की भाषा बड़ी संकरी है। जहाँ हम लोग कहते हैं बहुत खूब, वहाँ वे कहते हैं काम चलाऊ है। इसीलिए मैंने समझा कि मेरे भाग्य में प्रजापति के साथ पंचशर का विरोध नहीं है।

कहना बेकार है कि विवाह के लिए कन्या-पक्ष को ही कलकत्ते आना पड़ा। कन्या के पिता शम्भुनाथ बाबू हरीश का कितना विश्वास करते हैं, इसका प्रमाण यह है कि विवाह के सिर्फ तीन दिन पहले उन्होंने मुझे पहले-पहल देखा और आशीर्वाद दिया। उम्र उनकी चालीस के कुछ इधर-उधर होगी। खासे खूबसूरत आदमी हैं। भीड़ में सबसे पहले नजर पड़ने लायक चेहरा है।

आशा करता हूँ कि मुझे देखकर वे खुश हुए थे। समझना मुश्किल है, क्योंकि वे चुपचाप रहनेवाले आदमी हैं। जो दो-एक बात उनके मुँह से निकलती है, उस पर पूरा जोर नहीं देते। मामा का मुँह उस समय अनर्गल भाव से चल रहा था—धन और मान में हम लोगों का स्थान किसी से कम नहीं है, इसी का वे नाना प्रकार से प्रचार कर रहे थे। शंभुनाथ बाबू ने इस बात में बिल्कुल योग नहीं दिया। उनके मुँह से 'हाँ' या 'हूँ' नहीं सुनाई दिया। मैं होता तो कभी का दब गया होता, लेकिन मामा को दबाना कठिन है। उन्होंने शम्भुनाथ बाबू को चुप देखकर समझा कि यह आदमी निरा पोंगा है, कहीं कोई तेज नहीं। समधी सम्प्रदाय में और चाहे जो कुछ हो, लेकिन तेज का होना दोष है—अतएव मामा मन ही मन प्रसन्न हुए। शम्भुनाथ बाबू जब उठे तो मामा ने उन्हें बहुत संक्षेप में विदा किया, गाड़ी में बैठाने तक नहीं गये।

दहेज के संबन्ध में दोनों पक्ष में पक्की बात स्थिर हो गई थी। मामा अपने को असाधारण चतुर समझकर अभिमान किया करते हैं।

बातचीत में कहीं भी उन्होंने कोई खामी नहीं रहने दी। रुपये की संख्या तो स्थिर थी, इसके ऊपर कौन-सा गहना कितने भरी का होगा और सोना किस भाव का होगा यह भी स्थिर हो गया था। मैं खुद इन सारी बातों में सम्मिलित नहीं था। नहीं जानता, कि क्या लेना-देना ठीक हुआ। मन ही मन जानता था कि स्थूल अंश भी विवाह का एक प्रधान अंग है और जिनके ऊपर इसका भार है वे एक छदाम भी नहीं ठगे जा सकते। वस्तुतः हमारे सारे परिवार में मामा बहुत पक्के आदमी समझे जाते थे और इसका हमें गर्व भी था। जहाँ हम लोगों का संबंध है, वहाँ वे बुद्धि की लड़ाई में जीतेंगे यह मानी हुई बात थी। इसीलिए हमारे यहाँ धन का कोई अभाव न होते हुए भी और दूसरे पक्ष के पास अभाव कठिन होते हुए भी, हमीं जीतेंगे यह हमारे परिवार की ज़िद थी। इसमें मरे सो मरे, बचे सो बचे।

गात्र-हरिद्रा के दिन खूब धूमधाम रही। वाहक इतने आये कि उनकी गणना के लिए किरानी रखने पड़े। उनको विदा करने में दूसरे पक्ष को परेशान होना पड़ेगा यह सोचकर माँ और मामा एक ही साथ खूब हँसे।

बैंड, बिगुल, शौकिया कंसर्ट इत्यादि जितनी भी ऊँची आवाज वाली चीजें हैं सबको एक साथ मिलाकर बर्बरोचित कोलाहल के मस्त हाथी द्वारा संगीत सरस्वती के पद्म-वन को दलित करता हुआ मैं विवाह-गृह में उपस्थित हुआ। अँगूठी, हार और जवाहरात से मेरा शरीर ऐसा लग रहा था मानो गहने की दूकान नीलाम चढ़ रही हो। उनके भावी दामाद का मूल्य कितना है, उसे मानों बहुत कुछ स्पष्ट रूप में शरीर पर ही लिखकर मैं भावी ससुर का मुकाबला करने के लिए चला था।

मामा विवाह-गृह में प्रवेश करके प्रसन्न नहीं हुए। एक तो आँगन में बारातियों के लिए जगह का पूरा पड़ना कठिन था, इसके अलावा सारा आयोजन भी मध्यम ढंग का था। साथ ही शम्भुनाथ बाबू का व्यवहार बिल्कुल ठंडा था। उनमें विनय की मात्रा अत्यधिक नहीं थी। मुँह में बात तो थी ही नहीं। कमर में बँधी चादर, टूटा गला, गंजी

खोपड़ी, आबनूसी रंग और भारी-भरकम शरीर लेकर उनके एक वकील मित्र यदि बराबर हाथ जोड़कर, सिर हिलाकर, नम्रतासूचक मन्द हास्य के साथ गद्‌गद् वचन बोलते हुए करताल बजानेवाले से लेकर समधी तक को बार-बार प्रचुर रूप से अभिषिक्त न करते रहते तो शुरू में ही कुछ इस पार उस पार हो गया होता। मेरे जनवासे में बैठने के कुछ देर बाद मामा शम्भुबाबू को पास के कमरे में बुला ले गये। पता नहीं उन लोगों में क्या बातें हुई, कुछ देर बाद ही शम्भुनाथ बाबू मेरे पास आकर बोले, "बबुआ, जरा एकबार इधर तो आना।"

मामला यों था—सबका चाहे न हो किन्तु किसी-किसी आदमी के जीवन का कुछ लक्ष्य होता है। मामा का एकमात्र लक्ष्य यह था कि वे किसी प्रकार किसी से ठगे नहीं जायँगे। उन्हें डर था कि उनके समधी गहने के मामले में धोखा दे सकते हैं—विवाह हो गया तो फिर इस धोखे का प्रतिकार नहीं हो सकता। घर का भाड़ा, सौगात, बिदाई आदि में जिस प्रकार खींचतान का परिचय मिला था उससे मामा को निश्चय हो गया था कि देन-लेन के मामले में इस आदमी की बात पर विश्वास करने से काम नहीं चलेगा। इसीलिए घर के सुनार को साथ ले आये थे। पास के कमरे में जाकर देखता हूँ कि मामा एक चौकी पर बैठे हुए हैं और सुनार अपनी तराजू, बटखरा और कसौटी लिये फर्श पर बैठा है।

शम्भुनाथ बाबू ने कहा, "तुम्हारे मामा कहते हैं कि विवाह का काम शुरू होने के पहले वे कन्या के सभी गहनों को जाँचकर परख लेना चाहते हैं। तुम्हारी क्या राय है?"

मैं सिर झुका कर चुप हो रहा।

मामा बोले, "उससे क्या पूछते हैं, वह क्या कहेगा! मैं जो कहूँगा, वही होगा।"

शम्भुनाथ बाबू ने मेरी ओर देखकर कहा, "तो क्या यही तय रहा, वे जो कहेंगे वही होगा? इस विषय में तुम्हें कुछ कहना नहीं है?"

मैंने जरा गर्दन हिलाकर इशारे से बता दिया कि इस विषय में

बोलने का मुझे अधिकार नहीं है! "अच्छा तो बैठो। लड़की के शरीर से सारे गहने उतारकर ले आता हूँ,—" यह कहकर वे उठ गये।

मामा ने कहा, "अनुपम यहाँ क्या करेगा। वह सभा में जाकर बैठे।"

शम्भुनाथ बाबू ने कहा, "नहीं, सभा में नहीं बैठना होगा।"

कुछ देर बाद एक गमछे में बँधे हुए गहने लेकर वे लौटे और उन्हें चौकी पर पसार दिया। सब गहने उनके पितामह के जमाने के थे, हाल के फैशन का एक भी नहीं था, जितने ही मोटे उतने ही भारी।

सुनार ने एक गहना हाथ में लेकर कहा, "इसमें क्या देखूँ? इसमें खाद तो है ही नहीं। ऐसा सोना तो आजकल काम में नहीं आता।" यह कहकर उसने उस मकराकृत मोटे कंगन को जरा दबाकर दिखाया। वह झुक गया।

मामा ने उसी समय गहनों की गिनती दर्ज कर ली—बाद में कहीं ऐसा न हो कि दिखाये हुए गहनों में कुछ कमी पड़ जाय। हिसाब करके देखा, जितना देने की बात है, उससे ये गहने संख्या में, दर में और भार में कहीं अधिक हैं। गहनों में एक जोड़ा 'इयर-रिंग' भी था। शम्भुनाथ बाबू ने उसे सुनार के हाथ में देकर कहा, "इसे एकबार कसकर देखो।"

सुनार ने कहा, "यह विलायती माल है, इसमें सोने का हिस्सा बहुत थोड़ा है।"

शंभुनाथ बाबू ने 'इयर-रिंग' को मामा के हाथ में देकर कहा, "इसे आप लोग ही रखिये।"

मामा ने उसे हाथ में लेकर देखा, इसी 'इयर-रिंग' से उन्होंने कन्या को आशीर्वाद दिया था।

मामा का मुँह लाल हो गया। दरिद्र उनको ठगना चाहेगा, परन्तु वे ठगे नहीं जायँगे। इस आनन्द के उपभोग से वे वंचित हुए ही, ऊपर से कुछ और भी मिल गया! मुँह भारी करके बोले, "अनुपम, जाओ सभा में बैठो।"

शम्भुनाथ बाबू बोले, "नहीं, अभी सभा में नहीं जाना होगा। चलिये, आप लोगों को पहले भोजन करा दूँ।"

मामा बोले, "यह कैसी बात ? लग्न—"

शम्भुनाथ बाबू बोले, "उसकी चिन्ता न कीजिये, उठिये।" यह आदमी निहायत भलेमानस किस्म का है, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि इसके भीतर कुछ जोर भी है। मामा को उठना पड़ा। बारातियों का भोजन हो गया। आयोजन का कोई आडम्बर नहीं था, लेकिन रसोई अच्छी बनी थी और सब कुछ साफ़-सुथरा था, इसलिए सबको तृप्ति हुई।

बारातियों का खाना समाप्त होने के बाद, शम्भुनाथ बाबू ने मुझे खाने को कहा। मामा बोले, "यह क्या ? विवाह के पहले यह कैसे भोजन करेगा ?"

इस सम्बन्ध में मामा के मत की पूर्ण रूप से उपेक्षा करके उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "तुम क्या कहते हो, बैठने में कुछ दोष है क्या ?"

मूर्तिमती आज्ञास्वरूप मामा स्वयं उपस्थित थे, मेरे लिए उनके विरुद्ध चलना असम्भव है। मैं भोजन पर नहीं बैठ सका।

तब शम्भुनाथ बाबू ने मामा से कहा, "आप लोगों को बहुत कष्ट दिया है हम धनी नहीं हैं, आपके योग्य मैं आयोजन नहीं कर सका। क्षमा करेंगे। रात हो गई है, अब आप लोगों का कष्ट अधिक बढ़ाने की इच्छा मेरी नहीं है। तो फिर—"

मामा बोले, "तो जनवासे में चलिये, हम लोग तो तैयार ही हैं।"

शम्भुनाथ बोले, "जो लोग यह समझते हैं कि मैं अपनी लड़की का गहना खुद चुरा लूँगा, उनको मैं लड़की नहीं दे सकता।"

मुझसे कुछ भी कहना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि यह सिद्ध हो चुका था कि मैं कोई नहीं हूँ।

इसके बाद जो कुछ हुआ मैं कहना नहीं चाहता। झाड़-फानूस तोड़कर, माल-असबाब नष्ट-भ्रष्ट करके दक्ष-यज्ञ विध्वन्स का अभिनय समाप्त करके बाराती लोग चले आये। घर लौटते समय शहनाई और

बैंड एक साथ नहीं बजे और आतिशबाजी के झाड़ आसमान के सितारों को अपना भार सौंपकर न जाने कहाँ विलीन हो गये।

× × ×

घर के सब लोग गुस्से से आगबबूले हो उठे। लड़की के बाप को इतना गुमान! कलियुग का चौथा चरण पूरा होने को आया! सबने कहा, "देखा जाय, लड़की की शादी वह कैसे करता है?" किन्तु लड़की की शादी न होने का डर जिसके मन में नहीं है, उसको दण्ड देने का उपाय ही क्या हो सकता है!

सारे बंगाल में मैं ही एक ऐसा पुरुष हूँ जिसे लड़की के बाप ने विवाह के मण्डप से स्वयं लौटा दिया है। इतने बड़े सत्पात्र के भाग्य में इतने बड़े कलंक का दाग न जाने किस पाप-ग्रह ने इस तरह मशाल जलाकर, बाजा बजाकर धूमधाम के साथ लगा दिया! बाराती लोग यह कहकर सिर ठोंकने लगे कि व्याह हुआ नहीं और धोखा देकर हम सब लोगों को खिला दिया—अपने-अपने पेट का अन्न अगर वहाँ फेंक आया जा सकता तो अफ़सोस कुछ कम होता।

मामा यह कहकर हो-हल्ला करते फिरे कि विवाह का इकरारनामा तोड़ने का और मानिहानि का दावा करके नालिश करेंगे। हितैषियों ने समझा दिया कि ऐसा होने से जो कुछ बाकी है वह भी पूरा हो जायगा।

कहना व्यर्थ है कि मैं भी खूब बिगड़ा था। मूँछों पर ताव देता हुआ सिर्फ यही मनाता था कि किसी प्रकार शम्भुनाथ निरुपाय होकर हमारे चरणों पर आ गिरें।

किन्तु इस आक्रोश की काली धारा के पास ही एक और धारा बह रही थी, उसका रंग काला नहीं था। सारा मन उस अपरिचिता की ओर दौड़ गया। हायरे! सिर्फ एक दीवाल भर का व्यवधान रह गया था। माथे पर उसके चन्दन अंकित होगा, शरीर पर लाल साड़ी और मुँह पर लज्जा की लालिमा और हृदय में क्या था सो कैसे बताऊँ। मेरे कल्पना-लोक की कल्पलता वसन्त के समस्त फूलों का भार मुझे निवेदन करने के

लिये झुकी हुई थी—हवा आती है, सुगन्धि मिलती है, पत्रों की मरमर ध्वनि सुनाई देती है, केवल और एक पैर आगे बढ़ने की देर है—कि इसी बीच, सिर्फ एक क्षण में उस एक डग का दूरत्व असीम हो गया।

इतने दिनों तक हर शाम को बीनूदा के घर जाकर उन्हें मैंने बेचैन कर दिया था। बीनूदा की वर्णन की भाषा अत्यन्त संक्षिप्त थी, इसलिए उसकी प्रत्येक बात ने चिनगारी की भाँति मेरे मन में आग लगा दी थी। समझा था, लड़की का रूप आश्चर्यजनक है किन्तु उसे न तो आँखों से ही देख सका और न उसका चित्र ही देख पाया। सब कुछ अस्पष्ट रह गया—बाहर तो वह पकड़ में आ ही नहीं सकी, मन में भी उसे नहीं ला सका—इसीलिए मन उस दिन के विवाह-मण्डप के आस-पास भूत की तरह चक्कर काटने लगा।

हरीश ने सुना है कि लड़की को मेरा फोटोग्राफ दिखाया गया था। पसन्द तो उसने किया ही होगा। न करने का तो कोई कारण ही नहीं है। मेरा मन कहता है कि वह चित्र उसकी किसी सन्दूक में छिपा पड़ा है। क्या कभी एकान्त घर में दरवाजा बन्द करके दुपहरी के समय चुप-चाप वह उस चित्र को नहीं देखती? जब झुककर देखती होगी तब चित्र पर उसके दोनों ओर से लटके हुए केश नहीं दीख पड़ते होंगे? हठात् बाहर किसी के पैर की आवाज़ सुनकर अपने सुगन्धित आँचल में वह उस चित्र को छिपा नहीं लेती होगी?

दिन बीत गये। साल पूरा हो गया। मामा तो मारे शर्म के विवाह सम्बन्ध की बात ही नहीं उठाते। माँ की इच्छा थी कि लोग जब हमारे अपमान की बात भूल जायँगे तब विवाह की चेष्टा की जायगी।

इधर मैंने सुना कि उस लड़की के लिए एक अच्छा पात्र मिल गया था, परन्तु उसने विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली है। सुनकर मेरा मन पुलक आवेग से भर गया। मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि उसने अच्छी तरह खाना-पीना भी छोड़ दिया है। साँझ हो आती है, वह केश बाँधना भूल जाती है। उसके पिता उसके चेहरे की ओर देखते हैं कि

मेरी बिटिया दिनोंदिन ऐसी क्यों होती जा रही है। अचानक किसी दिन उसके कमरे में आकर देखते हैं कि उसकी आँखें आँसू से भरी हैं। पूछते हैं, "बेटी, क्या हो गया है तुझे, बता न मुझे!"

लड़की जल्दी-जल्दी आँखें पोंछ लेती है। कहती है, "कहाँ, कुछ भी तो नहीं हुआ, बाबूजी!" बाप की एक ही लड़की है। बड़े दुलार से पली है। अनावृष्टि के समय की कली की भाँति बेटी एकदम उदास हो गई है, यह देखकर पिता अधिक नहीं सह सके। उस समय सारे अभिमान को त्यागकर वे दौड़े आये हमारे द्वार पर। और फिर! और फिर! मन में जो काले रंग की धारा थी, वह साँप का रूप धरकर उठी। उसने कहा, 'बहुत ख़ूब! फिर एक बार ब्याह की सभा सजाई जाय, रोशनी जले, देश-विदेश के आदमियों को न्योता दिया जाय, इसके बाद तुम वर के सेहरे को पैरों से रौंद कर सभा से चले आना!' किन्तु जो धारा आँख के पानी की तरह शुभ्र है, उसने राजहंस का रूप धारण करके कहा, 'जिस प्रकार मैं एक दिन दमयन्ती के पुष्प-वन में गया था, उसी प्रकार मुझे उड़ जाने दो। मैं विरहिणी के कानोंकान सुख का संवाद सुना आऊँ।' उसके बाद? उसके बाद दुःख की रात बीत गई, नवीन वर्षा की धार पड़ी, म्लान कलिका ने मुँह उठाया—इस बार उस दीवाल के बाहर रह गई सारी दुनिया और दुनिया के आदमी, और भीतर गया केवल एक व्यक्ति। फिर? फिर मेरी कहानी खत्म हुई।

× × ×

लेकिन कहानी यहीं खत्म नहीं हुई। वहाँ आकर वह खत्म होने से रह गई, वहीं का थोड़ा-सा विवरण देकर यह लेख समाप्त कर दूँगा। माँ को लेकर तीर्थ-यात्रा के लिए चला। मेरे ही ऊपर भार था, क्योंकि मामा इस बार भी हबड़ा के पुल के पार नहीं हुए। रेलगाड़ी में सो रहा था। दचके खाते-खाते दिमाग में नाना प्रकार के अस्त-व्यस्त स्वप्नों के तार बज रहे थे। अचानक किसी एक स्टेशन पर नींद उचट गई। अन्धकार और प्रकाश से मिला हुआ वह भी एक स्वप्न था। केवल आकाश

के सितारे परिचित थे और सब कुछ अज्ञात और अस्पष्ट। स्टेशन की लालटेनों के खम्भे खड़े होकर हाथ में दीपक लेकर यह दिखा रहे थे कि यह पृथ्वी कितनी अपरिचित है। गाड़ी में माँ सो रही थी। प्रकाश के नीचे हरा पर्दा खिंचा हुआ था। ट्रंक, सूटकेस, माल-असबाब सब इधर-उधर एक-दूसरे पर अस्त-व्यस्त पड़े थे। वे भी मानों स्वप्नलोक में उलटे-पुलटे असबाब हों, इस प्रकार हरे टिमटिमाते आलोक में रहने और न रहने के बीच एक विचित्र ढंग से पड़े हुए थे।

इसी समय उस अद्‌भुत स्थान की अद्‌भुत रात में न जाने कौन बोल उठा—"जल्दी चले आओ, इस डिब्बे में जगह है!"

ऐसा मालूम हुआ मानों कोई गीत सुना है। बंगाली लड़की के कंठ की बँगला भाषा कितनी मधुर होती है, वह इसी प्रकार असमय में और अस्थान में अचानक सुनने से ही समझ में आ सकती है। लेकिन इस कन्ठ-स्वर को केवल स्त्री का कंठ-स्वर कहकर किसी विशेष श्रेणी में डाल देना ठीक नहीं होगा। यह केवल एक ही व्यक्ति का गला है—सुनते ही मन कह उठा, ऐसा तो और कहीं नहीं सुना।

हमेशा ही गले का स्वर मेरे निकट बहुत बड़ा सत्य है। रूप नाम की वस्तु कुछ कम नहीं होती किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य के भीतर जो अन्तरतम और अनिर्वचनीय है, कंठस्वर उसी का चेहरा है। मैंने जल्दी से गाड़ी की खिड़की खोलकर बाहर सिर निकाला—कुछ भी नहीं दिखाई दिया। प्लेटफार्म के अन्धकार में खड़े होकर गार्ड ने अपनी एक आँख वाली लालटेन हिला दी, गाड़ी चल पड़ी—मैं खिड़की के पास बैठा रहा। मेरी आँख के सामने कोई मूर्ति नहीं थी,—किन्तु हृदय में मैं एक अन्य हृदय का रूप देखने लगा। वह मानों इस तारामयी रात्रि के समान है, जो घेरकर पकड़ रखती है किन्तु उसको नहीं पकड़ा जा सकता; अरे ओ स्वर, अपरिचित कंठ के स्वर, एक ही निमेष में तुम मेरे चिर-परिचय के आसन पर आ बैठे! कितने परिपूर्ण हो तुम—चंचलकाल के क्षुब्ध हृदय पर फूल की तरह खिले हो और फिर भी उसकी कोई तरंग

तुम्हारी एक पंखुड़ी तक को नहीं हिला सकी, अपरिमेय कोमलता में जरा भी धब्बा नहीं लगा !

गाड़ी लोहे के मृदंग पर ताल देती हुई चली।—मैं मन ही मन गान सुनते-सुनते चला। इस गान की एक ही टेक थी—गाड़ी में जगह है।" क्या सचमुच जगह है ? जगह मिलती कहाँ है ? कोई भी तो किसी को नहीं पहचानता। और फिर भी वह न पहचानना एक कुहासा मात्र है, वह माया है, उसके छिन्न होते ही पहचान का अन्त नहीं। ओ सुधामय स्वर, तुम जिस हृदय के अनुपम रूप हो, वह क्या मेरा चिर-काल का पहचाना हुआ नहीं ? जगह है, है—जल्दी आने के लिये पुकारा तुमने, जल्दी ही आया हूँ, पल भर की भी देर नहीं की है।

रात में अच्छी तरह नींद नहीं आई। सवेरे एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी बदलनी थी। हमारे पास फर्स्ट क्लास का टिकट था—पूरा भरोसा था कि भीड़ नहीं होगी। उतरकर देखता हूँ कि प्लेटफार्म पर साहब लोगों के अर्दली माल असबाब लेकर गाड़ी का इन्तजार कर रहे हैं। मालूम हुआ कि किसी फौज के एक बड़े जनरल साहब भ्रमण के लिए चल रहे हैं। दो-तीन मिनट बाद ही गाड़ी आयी। समझ गया, फर्स्ट क्लास की आशा छोड़नी पड़ेगी। माँ को लेकर किस डिब्बे में बैठूँ, यह कठिन चिन्ता सिर पर सवार हुई। सारी गाड़ी भरी पड़ी थी। प्रत्येक दर-वाजे पर झाँक-झाँककर लौट आया, कहीं जगह नहीं थी, इसी समय सेकण्ड क्लास के डिब्बे से एक लड़की ने माँ को लक्ष्य करके कहा, "आप लोग हमारे डिब्बे में आ जायें—यहाँ जगह है !"

मैं चौंक पड़ा। वह आश्चर्य-मधुर कंठ और गान की वही टेक—"जगह है।" क्षण भर का विलम्ब किये बिना माँ को लेकर मैं डिब्बे में दाखिल हो गया। माल-असबाब उठाने का समय प्रायः था ही नहीं। मेरे जैसा अक्षम दुनिया में कोई नहीं है। उसी लड़की ने कुलियों के हाथ से जल्दी-जल्दी चलती गाड़ी में हमारा बिस्तर वगैरह खींच लिया। मेरा कैमरा स्टेशन पर ही रह गया। मैंने परवाह नहीं की।

इसके बाद—क्या लिखूँ नहीं जानता ! मेरे मन में एक अखंड आनंद का चित्र है। कहाँ से शुरू करूँ और कहाँ समाप्त करूँ ! बैठे-बैठे वाक्य पर वाक्य जोड़ने की इच्छा नहीं होती।

इस बार उस स्वर को मैंने आँखों से देखा। लड़की की उम्र सोलह या सत्रह होगी—किन्तु नवयौवन ने उसके शरीर में या मन में कहीं लेश-मात्र भी भार नहीं लाद दिया था। गति सहज; दीप्ति निर्मल और सौन्दर्य की शुचिता अपूर्व थी।

लगता है कि विस्तारपूर्वक कहना मेरे लिये असंभव है। यहाँ तक कि मैं यह भी नहीं कह सकता कि उसने किस रंग की साड़ी किस प्रकार पहनी थी। यह सही है कि उसकी वेश-भूषा में ऐसा कुछ भी नहीं था, जो उसको दबाकर स्वयं विशेष रूप से दीख पड़े। वह अपने चारों ओर के सब कुछ की अपेक्षा अधिक थी—रजनीगंधा की शुभ्र मंजरी के समान सरल वृन्त पर खड़ी होकर उसने उस सारे पौधे का अतिक्रमण कर लिया था, जिसमें वह खिली थी। साथ में दो-तीन छोटी-छोटी लड़कियाँ थीं। उनके साथ उसकी बातचीत और हँसी का कोई अंत नहीं था। मैं हाथ में पुस्तक लेकर उधर ही कान लगाये बैठा था, जितना कुछ कानों में पड़ता था वह बच्चों के साथ कही हुई लड़कपन की ही बातें थीं। विशेषत्व यह था कि उसमें उम्र का व्यवधान कुछ भी नहीं था—शिशुओं के साथ वह भी शिशु हो गई थी—अनायास ही और आनंदपूर्वक। साथ में कुछ बच्चे की कहानियों की सचित्र पुस्तकें थीं। उसी में से कोई कहानी सुनाने के लिए लड़कियों ने जिद की। यह कहानी उन्होंने निश्चय ही बीस-पच्चीस बार सुनी है, फिर भी उनका आग्रह इतना क्यों है, यह मैं समझ गया। उस अमृत कंठ की स्वर्णशलाका से छुआ जाकर सब कुछ सोना हो जाता था। उ लड़की का सारा शरीर और मन जैसे प्राणों से परिपूर्ण था। उसके हँसने बोलने से जैसे प्राण छलका पड़ता था। इसीलिए जब लड़कियाँ उसं मुँ से कहानी सुनती थीं तो असल में वे उसी को सुनती थीं कहानी कं नहीं। उनके हृदय पर प्राण का झरना झरने लगता था। उफ वह

उद्भासित प्राण उस दिन मेरे लिए जैसे सूर्य की समस्त किरणों को सजीव करता रहा—मेरे मन में आया कि जिस प्रकृति ने मुझे अपने आकाश से वेष्ठित किया है, वह उसी तरुणी के अक्लान्त प्राण का ही विश्वव्यापी विस्तार है। आगे वाले स्टेशन पर पहुँचते ही उसने खोंमचेवाले को बुलाकर भुने चने के ठोंगे खरीद लिये और लड़कियों के साथ मिलकर बच्चों की तरह निस्संकोच खाने लगी। मेरी प्रकृति जाल से घिरी हुई है—मैं सहज भाव से हँसता हुआ लड़की के पास जाकर एक मुट्ठी चना क्यों नहीं माँग सका ? हाथ बढ़ाकर अपने लोभ को क्यों नहीं स्वीकार कर लिया मैंने ?

माँ अच्छा लगना और बुरा लगना इन दोनों के बीच की दुविधा में पड़ी हुई थीं! गाड़ी में मैं पुरुष बैठा हुआ हूँ तो भी इस लड़की को कुछ भी संकोच नहीं हो रहा है। वह इस प्रकार लालची की तरह चने खा रही थी कि माँ को उसका यह ढंग बिल्कुल पसंद नहीं आया, लेकिन फिर भी उन्हें यह भ्रम नहीं हुआ कि यह बिल्कुल बेहया है। उनके मन में ऐसा लग रहा था कि इस लड़की की उम्र तो हो गई पर शिक्षा नहीं हुई। माँ अचानक किसी के साथ बातचीत नहीं कर सकतीं। दूर-दूर रहना ही उनका अभ्यास है। इस लड़की से परिचय बढ़ाने की उनकी खूब इच्छा थी, परन्तु स्वाभाविक बाधा का अतिक्रम नहीं कर सकती थीं। ऐसे ही समय गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर आकर रुकी। उसी जनरल के एक साथी इस स्टेशन से गाड़ी में बैठने का प्रयत्न कर रहे थे। गाड़ी में कहीं जगह नहीं थी। बार-बार हमारे डिब्बे के सामने आकर वे लौट गये। माँ तो डर के मारे सिमट गईं। मेरे मन में भी शान्ति नहीं थी।

गाड़ी छूटने के थोड़ी देर पहले एक देशी रेलवे अफ़सर ने नाम लिखे दो टिकट डिब्बे की दोनों सीटों के सिरहाने लटकाकर मुझसे कहा, इस डिब्बे की दो सीटें पहले से ही दो साहबों ने रिज़र्व करा रखी हैं। आप लोगों को दूसरे डिब्बे में जाना होगा।

मैं जल्दी-जल्दी हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। लड़की ने हिन्दी में कहा, "हम डिब्बा नहीं छोड़ सकते।"

उस आदमी ने रुखाई के साथ कहा, "कोई उपाय नहीं है, ख़ाली करना ही पड़ेगा।" किन्तु उस लड़की के वहाँ से टलने का कोई लक्षण न देखकर वह उतर गया और अंग्रेज़ स्टेशन मास्टर को बुलाकर लाया। उसने आकर मुझसे कहा, "मुझे अफसोस है लेकिन—"

सुनकर मैं "कुली-कुली" चिल्लाने लगा। लेकिन उस लड़की की आँखों से आग बरसने लगी, वह उठकर मेरे पास चली आई और बोली, "नहीं, आप नहीं जा सकेंगे। जैसे हैं वैसे ही बैठे रहिये।" मुझसे इतना कहकर वह दरवाजे के पास आकर खड़ी हो गई और स्टेशन मास्टर से अंग्रेजी में बोली, "यह बात झूठ है कि यह डिब्बा पहले से रिज़र्व है।" और उसने नाम लिखे हुए उन टिकटों को नोचकर प्लेटफार्म पर फेंक दिया।

इसी बीच अपने अर्दली के साथ वे वर्दीधारी साहब डिब्बे के दरवाजे पर आ खड़े हुए। वे सामान उठाने को अर्दली को इशारा कर चुके थे, किन्तु लड़की के चेहरे की ओर देखकर और उसकी बातें सुनकर उन्होंने स्टेशन मास्टर को धीरे से अपनी ओर खींचा और दबी आवाज़ में न जाने क्या समझाने लगे। बाद में सब लोगों ने देखा कि गाड़ी छूटने का समय बीत जाने पर भी एक दूसरा डिब्बा जोड़ा गया और तब ट्रेन छूटी। उस लड़की ने अपने दलबल के साथ फिर चना खाना शुरू किया और मैं लज्जा का मारा खिड़की के बाहर मुँह निकालकर प्रकृति की शोभा देखने लगा।

कानपुर में गाड़ी रुकी। लड़की माल-असबाब बाँधकर तैयार हो गई—स्टेशन पर एक हिन्दुस्तानी नौकर दौड़ा आया और इनको उतारने का प्रयत्न करने लगा।

माँ तब और नहीं रह सकीं। पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है बेटी"

लड़की ने जबाब दिया, "मेरा नाम कल्याणी है।"

सुनकर हम दोनों चौंक उठे।

"तुम्हारे पिता—"

"वे यहीं डाक्टर हैं, नाम है शंभुनाथ सेन ?"

इसके बाद वह उतर गई।

× × ×

इसके बाद मामा का निषेध अमान्य करके और माता की आज्ञा का उल्लंघन करके अब मैं कानपुर आ गया हूँ। हाथ जोड़े हैं, सिर झुकाया है तब कहीं शम्भुनाथ बाबू का हृदय पसीजा है। लेकिन कल्याणी कहती है, "विवाह नहीं करूँगी।"

मैंने पूछा, "क्यों ?"

उसने कहा, "माता की आज्ञा।

अनर्थ हो गया ! इधर भी कोई 'मामा' है क्या !

बाद में समझा मातृ-भूमि है। उस विवाह-भंग के बाद कल्याणी ने लड़कियों की शिक्षा का व्रत ग्रहण कर लिया था।

किन्तु मैं आशा नहीं छोड़ सका। क्योंकि वह स्वर आज भी मेरे हृदय में बज रहा है—न जाने कैसी बंशी है, जिसका स्वर सारे संसार के परे है। और वह स्वर जो रात को अंधकार में मेरे कानों में पड़ा था, "जगह है," वह मेरे जीवन के गान की टेर बन गया है! उस समय मेरी उम्र थी तेईस, अब हो गई है सत्ताईस। अब भी आशा नहीं छोड़ी है, लेकिन मामा को छोड़ दिया है। माँ का इकलौता पुत्र हूँ, महज इसीलिए माँ मुझे नहीं छोड़ सकीं हैं।

तुम समझते हो, मैं विवाह की आशा करता हूँ ? नहीं, कदापि नहीं। मेरे मन में है सिर्फ एक रात के अपरिचित कंठ के मधुर स्वर की आशा—"जगह है।" निश्चय ही है। न होगी, तो मैं खड़ा कहाँ होऊँगा। इसीलिए साल पर साल बीतते जाते हैं, मैं यहीं हूँ। भेंट होती है, वह कंठस्वर सुनता हूँ। जब सुविधा पाता हूँ, उसका कुछ काम कर देता हूँ। और मन कहता है यही तो जगह मिली है। ओ अपरिचिता, तुम्हारे परिचय की समाप्ति नहीं हुई, होगी भी नहीं, लेकिन भाग्य मेरा अच्छा है, जगह तो पा गया।

मालदान

उस दिन सुबह कुछ ठंडक थी। लेकिन दोपहर के समय हवा कुछ गर्म-सी होकर दक्खिन की तरफ से बहने लगी थी।

यतीन्द्र जिस बरामदे में बैठा था, वहाँ से बगीचे के एक कोने में लगे कटहल और शिरीष के वृक्षों के बीच से बाहर का मैदान दिखाई पड़ता है। वह सुनसान मैदान फागुन की धूप में जैसे धू-धू जल रहा था। उसके पास से एक कच्चा रास्ता निकल गया है। उस रास्ते से होकर एक खाली बैलगाड़ी मन्थर गति से गाँव की तरफ लौट रही थी और गाड़ीवान सिर पर गमछा-लपेटे मौज में कोई गीत गा रहा था।

इसी समय पीछे से किसी नारी का सहास्य स्वर सुनाई दिया, "क्या पूर्वजन्म की कोई बात सोच रहे हो" ?

यतीन्द्र बोला, "क्यों पटल, मैं क्या ऐसा हतभागा हूँ कि सोचते समय पूर्वजन्म को घसीटे बिना मेरा काम ही नहीं चल सकता।"

उसके परिचितों में पटल, नाम से जानी जानेवाली, लड़की बोल उठी, 'झूठी शेखी न बघारो, तुम्हारे इस जन्म की सारी खबर मुझे है। छिः-छिः इतनी उम्र हुई, फिर भी एक साधारण-सी बहू तक घर में न ला सके! हमारा जो धनेसर माली है उसकी भी एक स्त्री है—जो उसके साथ सुबह-शाम लड़-झगड़कर मुहल्ले भर के लोगों को कम से कम इतना तो जता ही देती है कि उसका भी अस्तित्व है! तुम तो मैदान की तरफ मुँह, फेरे कुछ ऐसा भाव दिखा रहे हो मानों किसी चाँद-जैसे मुखड़े का ध्यान करने बैठे हो। तुम्हारी इस चालों को क्या मैं समझती नहीं? यह सब लोगों को दिखाने का ढोंग मात्र है। देखो यतीन्द्र, ब्राह्मण के लिये जनेऊ की जरूरत नहीं पड़ती। हमारा वह धनेसर माली तो कभी विरह का बहाना करके मैदान की तरफ इस तरह ताकता बैठा नहीं

रहता। बहुत बड़े वियोग के समय भी उसे पेड़ के तले हाथों में खुरपी लिये समय बिताते देखा है, किन्तु उसकी आँखों में तो कभी ऐसी खुमारी नहीं देखी। इधर एक तुम हो, जिसने सात जन्म कभी बहू का मुँह तक नहीं देखा—सिर्फ—अस्पताल में मुर्दे की चीरफाड़ करके और किताबें रट-रटकर उम्र काट दी। तब आखिर तुम दुपहरिया में इस तरह आकाश की तरफ गद्गद् होकर क्यों ताकते हो, जरा बताओ तो! नहीं, यह चाल तो मुझे अच्छी नहीं लगती।"

यतीन्द्र ने हाथ जोड़कर कहा, "चलो रहने भी दो—मुझे नाहक लज्जित न करो। तुम्हारा वह धनेसर माली ही धन्य रहे। उसी के आदर्श के अनुसार चलने की मैं चेष्टा करूँगा। अब और देरी नहीं, सुबह उठते ही जिस लड़की का मुँह देखूँगा, उसी के गले में बरमाला डाल दूँगा। तुम्हारा यह धिक्कार अब मुझसे नहीं सहा जाता।"

"तो बात पक्की रही?" पटल बोली।

"हाँ।"

"तब आओ। आओ, तो सही।"

"नहीं-नहीं, जरूर तुम्हें कोई शरारत सूझी है—मैं अभी नहीं जाने का।"

"अच्छा तो फिर यहीं टिके रहो।" कहकर वह तेजी से चली गयी।

अब इनका परिचय दे दिया जाय। यतीन्द्र और पटल की उम्र में सिर्फ एक ही दिन का अन्तर है। पटल यतीन्द्र से, एक ही दिन सही, बड़ी है। लेकिन इसीलिए यतीन्द्र को उसके प्रति सम्मान दिखाना होगा, इसके लिये वह कतई राजी नहीं होता। दोनों चचेरे भाई-बहिन की तरह साथ खेले हैं। यतीन्द्र के जीजी कहकर न पुकारने पर पटल ने कितनी ही बार पिता और चाचा से उसकी शिकायत की है। लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। दुनिया में इस एक छोटे भाई के पास भी पटल का मामूली नाम पटल लुप्त नहीं हो सका।

पटल खासी मोटी-ताजी गोल-मटोल लड़की है। प्रफुल्लता के रस

से सब प्रकार परिपूर्ण, उसके कौतुकभरे हास्य को दमन करके रखने लायक शक्ति सिमाज में नहीं थी। सास के पास भी वह किसी दिन गंभीरता का नाटक नहीं कर पायी। पहले-पहल इसे लेकर काफी बातें उठीं। लेकिन अंत में सब को हार मानकर कहना पड़ा, "इसके तो ढंग ही निराले हैं!" उसके बाद यहाँ तक नौबत आई की दुर्निवार प्रफुल्लता के आघात से गुरुजनों का गाम्भीर्य धूलिसात् हो गया। पटल अपने आस-पास किसी का जी भारी करना, मुँह लटकाना, या चिन्ता करना नहीं सह सकती थी। अजस्र हँसी-मजाक से उसके चारों तरफ के वातावरण में मानों किसी विद्युत्-शक्ति का संचार रहता था।

पटल के स्वामी हरकुमार बाबू डिप्टी मजिस्ट्रेट हैं। बिहार के इलाके से तरक्की करके उन्हें कलकत्ते के आबकारी-विभाग में ले लिया गया है। वे प्लेग के डर से शहर-बाहर एक बगियावाला मकान किराये पर लेकर रहते हैं और वहीं से कलकत्ते आया-जाया करते हैं। आबकारी विभाग से प्रायः ही उन्हें दौरे पर देहात का चक्कर काटना पड़ता है। वे देस से माँ और अन्य किसी आत्मीय को लिवा लाने की फिराक में थे कि इसी-बीच हाल ही में डाक्टरी-पास, यतीन्द्र बहिन के निमन्त्रण पर सप्ताह भर के लिये वहाँ आ पहुँचा।

कलकत्ते की गहन गलियों में से होकर पहली बार पेड़-पत्तों के बीच आकर यतीन्द्र इस सूने, छायामय बरामदे में फागुन की दुपहरिया के रसालस्य में विभोर होकर बैठा था, कि तभी पूर्व-कथित यह उपद्रव आरम्भ हुआ। पटल के चले जाने पर फिर कुछ देर के लिए निश्चिन्त होकर वह आराम से बैठ गया। लकड़हारिन के प्रसंग में यतीन्द्र का मन बचपन से सुनी हुई परीदेश की कहानियों के वातावरण में चक्कर काटने लगा।

इसी समय फिर एक बार पटल का हास्य से सना स्वर सुनकर वह चौंक उठा। पटल किसी बालिका को हाथ पकड़े जोर से खींचती हुई सामने लाकर बोली, "चुनिया!"

बालिका ने कहा, "क्या है, दीदी?"

पटल—"मेरा यह भाई कैसा है, देख तो भला ?"

बालिका निःसंकोच यतीन्द्र की तरफ ताकने लगी। पटल ने कहा, "क्यों देखने में अच्छा तो लगता है न?" बालिका गंभीर भाव से विचार करती हुई सिर हिला कर बोली, "हाँ अच्छा ही है।"

यतीन्द्र लाज से लाल होकर कुर्सी छोड़ते हुए बोला, "उफ ! पटल यह भी क्या लड़कपन है !"

पटल—"मैं लड़कपन कर रही हूँ, या तुम बुढ़ापा रच रहे हो ?"

यतीन वहाँ से भाग निकला। पटल उसके पीछे-पीछे दौड़ती हुई बोली, "अरे, सुन तो जाओ, यतीन ! डर की कोई बात नहीं है—जरा भी नहीं। भला अभी कहाँ तुम्हें वरमाला पहनाये देती हूँ। फागुन-चैत में तो इस बार कोई लगन ही नहीं पड़ती—अभी बहुत समय है !"

पटल जिसे चुनिया कहकर पुकारती है, वह तो हैरान खड़ी रह गई। उम्र उसकी सोलह की होगी, देह छरहरी। मुख की शोभा के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने को नहीं है, सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें कहीं कोई ऐसी एक असामान्यता है जो देखते ही वन की हिरनी की याद दिला लाती है। कठिन भाषा में कहा जाय तो उसे निर्बुद्धि भी कह सकते हैं, किन्तु मूर्ख किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता। सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि शायद बुद्धि का पूरा विकास अभी नहीं हुआ है। लेकिन इसने चुनिया के मुख के सौन्दर्य को घटाया नहीं, बल्कि उसमें एक विशेषता ला दी है।

साँझ के समय हरकुमार बाबू कलकत्ते से लौटकर यतीन्द्र से बोले, "वाह, यतीन्द्र आ पहुँचा—बड़ा अच्छा ही हुआ। भई, सुनो तुम्हें जरा डाक्टरी करनी होगी। पच्छिम तरफ रहते हुए अकाल के दिनों से हम एक लड़की का पालन-पोषण कर रहे हैं। पटल उसे चुनिया कहकर पुकारती है। उसके माँ-बाप और यह बच्ची बाहर मैदान के पास ही एक पेड़ के तले पड़े हुए थे। खबर पाते ही हमने जाकर देखा तो इसके माँ-बाप तो तब मर चुके थे, सिर्फ लड़की के प्राण बाकी बचे थे। पटल ने

से सब प्रकार परिपूर्ण, उसके कौतुकभरे हास्य की दमन करके रखने लायक शक्ति सिमाज में नहीं थी। सास के पास भी वह किसी दिन गंभीरता का नाटक नहीं कर पायी। पहले-पहल इसे लेकर काफी बातें उठीं। लेकिन अंत में सब को हार मानकर कहना पड़ा, "इसके तो ढंग ही निराले हैं!" उसके बाद यहाँ तक नौबत आई की दुर्निवार प्रफुल्लता के आघात से गुरुजनों का गाम्भीर्य धूलिसात् हो गया। पटल अपने आस-पास किसी का जी भारी करना, मुँह लटकाना, या चिन्ता करना नहीं सह सकती थी। अजस्र हँसी-मजाक से उसके चारों तरफ के वातावरण में मानों किसी विद्युत्-शक्ति का संचार रहता था।

पटल के स्वामी हरकुमार बाबू डिप्टी मजिस्ट्रेट हैं। बिहार के इलाके से तरक्की करके उन्हें कलकत्ते के आबकारी-विभाग में ले लिया गया है। वे प्लेग के डर से शहर-बाहर एक बगियावाला मकान किराये पर लेकर रहते हैं और वहीं से कलकत्ते आया-जाया करते हैं। आबकारी विभाग से प्रायः ही उन्हें दौरे पर देहात का चक्कर काटना पड़ता है। वे देस से माँ और अन्य किसी आत्मीय को लिवा लाने की फिराक में थे कि इसी-बीच हाल ही में डाक्टरी-पास, यतीन्द्र बहिन के निमन्त्रण पर सप्ताह भर के लिये वहाँ आ पहुँचा।

कलकत्ते की गहन गलियों में से होकर पहली बार पेड़-पत्तों के बीच आकर यतीन्द्र इस सूने, छायामय बरामदे में फागुन की दुपहरिया के रसालस्य में विभोर होकर बैठा था, कि तभी पूर्व-कथित यह उपद्रव आरम्भ हुआ। पटल के चले जाने पर फिर कुछ देर के लिए निश्चिन्त होकर वह आराम से बैठ गया। लकड़हारिन के प्रसंग में यतीन्द्र का मन बचपन से सुनी हुई परीदेश की कहानियों के वातावरण में चक्कर काटने लगा।

इसी समय फिर एक बार पटल का हास्य से सना स्वर सुनकर वह चौंक उठा। पटल किसी बालिका को हाथ पकड़े जोर से खींचती हुई सामने लाकर बोली, "चुनिया!"

बालिका ने कहा, "क्या है, दीदी?"

पटल—"मेरा यह भाई कैसा है, देख तो भला ?"

बालिका निःसंकोच यतीन्द्र की तरफ ताकने लगी। पटल ने कहा, "क्यों देखने में अच्छा तो लगता है न ?" बालिका गंभीर भाव से विचार करती हुई सिर हिला कर बोली, "हाँ अच्छा ही है।"

यतीन्द्र लाज से लाल होकर कुर्सी छोड़ते हुए बोला, "उफ ! पटल यह भी क्या लड़कपन है !"

पटल—"मैं लड़कपन कर रही हूँ, या तुम बुढ़ापा रच रहे हो ?"

यतीन वहाँ से भाग निकला। पटल उसके पीछे-पीछे दौड़ती हुई बोली, "अरे, सुन तो जाओ, यतीन ! डर की कोई बात नहीं है—जरा भी नहीं। भला अभी कहाँ तुम्हें वरमाला पहनाये देती हूँ। फागुन-चैत में तो इस बार कोई लगन ही नहीं पड़ती—अभी बहुत समय है !"

पटल जिसे चुनिया कहकर पुकारती है, वह तो हैरान खड़ी रह गई। उम्र उसकी सोलह की होगी, देह छरहरी। मुख की शोभा के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने को नहीं है. सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें कहीं कोई ऐसी एक असामान्यता है जो देखते ही वन की हिरनी की याद दिला लाती है। कठिन भाषा में कहा जाय तो उसे निर्बुद्धि भी कह सकते हैं, किन्तु मूर्ख किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता। सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि शायद बुद्धि का पूरा विकास अभी नहीं हुआ है। लेकिन इसने चुनिया के मुख के सौन्दर्य को घटाया नहीं, बल्कि उसमें एक विशेषता ला दी है।

साँझ के समय हरकुमार बाबू कलकत्ते से लौटकर यतीन्द्र से बोले, "वाह, यतीन्द्र आ पहुँचा—बड़ा अच्छा ही हुआ। भई, सुनो तुम्हें जरा डाक्टरी करनी होगी। पच्छिम तरफ रहते हुए अकाल के दिनों से हम एक लड़की का पालन-पोषण कर रहे हैं। पटल उसे चुनिया कहकर पुकारती है। उसके माँ-बाप और यह बच्ची बाहर मैदान के पास ही एक पेड़ के तले पड़े हुए थे। खबर पाते ही हमने जाकर देखा तो इसके माँ-बाप तो तब मर चुके थे, सिर्फ लड़की के प्राण बाकी बचे थे। पटल ने

उसे बड़े सेवा-जतन के बाद बचाया है। इसकी जाति के बारे में कोई कुछ नहीं जानता। और अगर उस तरफ से कोई एतराज भी करता है तो पटल कहती है—"वह तो द्विज है। एक बार मरकर फिर से इस घर में जनमी है! इसकी मूल जाति तो कबकी मिट चुकी। पहले-पहल पटल को उसने माँ कहकर पुकारना शुरू किया था—लेकिन पटल ने ही उसे धमकाते हुए कह दिया है—खबरदार, मुझे माँ मत कहना। दीदी कहकर भले ही पुकार सकती हो। पटल कहती है, "इतनी बड़ी लड़की अगर मुझे माँ कहेगी तो मैं अपने आपको बुढ़िया समझने लगूँगी।" और भी एक बात है शायद उन अकाल के दिनों के लगातार उपवासों से या फिर और किसी कारण से चुनिया को रह-रहकर शूल की तरह पीड़ा उठा करती है। दर-असल बात क्या है सो तुम्हीं को जरा अच्छी तरह परीक्षा करके समझाना होगा। अरे ओ, तुलसी! चुनिया को तो जरा बुला ला।"

चुनिया बाल बाँधती हुई अपनी अधखुली वेणी को पीठ पर झुलाये हरकुमार बाबू के कमरे में दाखिल हुई। अपनी हिरन-जैसी आँखों से दोनों को चुपचाप ताकती खड़ी रह गई। हरकुमार बाबू ने कहा, "तुम तो नाहक संकोच कर रहे हो, यतीन्द्र। वह तो देखने भर की बड़ी है, लेकिन कच्चे नारियल की तरह उसके भीतर सिर्फ स्वच्छ पानी ही छलक रहा है। वह कुछ भी समझती-बूझती नहीं, उसे तुम नारी समझने की भूल मत कर बैठना, वह तो वन की हिरनी मात्र है।"

यतीन्द्र चुपचाप अपने डाक्टरी कर्तव्य को पूरा करने में लग गया। चुनिया ने किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं व्यक्त की। यतीन्द्र ने कहा, "शरीर-यन्त्र में कोई विकार हो, ऐसा तो नहीं दिखाई देता।"

पटल झट से कमरे में आकर बोली, "हृदय यन्त्र में तो कोई विकार नहीं हुआ है, परीक्षा करना चाहते हो क्या! अच्छी बात है—"यह कहते हुए वह चुनिया के पास आकर उसकी ठोढ़ी छूती हुई बोली, "चुनिया, मेरा यह भाई तुझे पसन्द आया!"

उसने सिर हिलाकर कहा, "हाँ"।

पटल ने कहा, "मेरे इस भाई से तू शादी करेगी ?"

वह सिर फिर हिलाकर बोली, "हाँ।"

पटल और हरकुमार बाबू दोनों ही हँस पड़े। चुनिया—इस कौतुक के मर्म को न समझकर भी—उन्हीं का अनुकरण कर, हँसी से भरा चेहरा लेकर उन्हीं की तरफ ताकती रह गई। यतीन्द्र शर्म से लाल हो उठा और परेशान-सा होकर बोला, "ओह, पटल तुम बहुत ज्यादती करती हो। यह तो बड़ा अन्याय है। हरकुमार बाबू भी तो तुम्हें बहुत बढ़ावा दे बैठते हैं।"

हरकुमार बाबू बोले, "अगर उसे प्रश्रय न दूँ तो मैं भी उससे प्रश्रय पाने की प्रत्याशा कैसे कर पाऊँगा। लेकिन यतीन्द्र ! चुनिया को तुम नहीं जानते इसीलिये इतने हैरान हो रहे हो। ऐसा मालूम पड़ता है कि तुम खुद शरमाकर चुनिया को भी शरमाना सिखा दोगे। ज्ञानतरु का फल उसे मत सिखाओ। आज तक हम सबने उसके साथ सरल भाव से कौतुक किया है। लेकिन तुम अगर बीच में आकर गाम्भीर्य रचोगे तो यह उसके लिए बड़ा असंगत-सा मामला हो उठेगा।"

पटल बोली—"इसीलिए तो यतीन्द्र के साथ मेरी कभी पटी नहीं, बचपन से लेकर आज तक सिर्फ झगड़ा ही हुआ है। यतीन्द्र जरूरत से ज्यादा गंभीर है।"

हरकुमार, "ओ, तो लड़ाई करना शायद इसी तरह तुम्हारे अभ्यास में शामिल हो बैठा है। जब भाई साहब सरक गये तो मुझे बेचारे..."

पटल—"फिर झूठा। भला तुमसे झगड़ा करने में कौन-सा सुख है। मैं कभी चेष्टा भी नहीं करती।"

हरकुमार—"मैं शुरू में ही हार जो मान लेता हूँ।"

पटल—"सो बड़ा भारी काम कर दिखाते हो। शुरू में हार न मानकर अगर अन्त में मान लेते तो कितनी खुशी होती !"

रात सोने के कमरे के दर्वाज़े-खिड़कियाँ खोलकर यतीन्द्र न जाने

क्या सोचता बैठा रहा। जिस लड़की ने अपने माँ-बाप को भूखों मरते देखा है, उसके जीवन पर कैसी भयंकर छाया आकर पड़ी होगी। ऐसी भयानक घटना के भीतर से आज वह इतनी बड़ी हुई है। उसे लेकर भला कहीं परिहास किया जा सकता है! यही भला हुआ जो विधाता ने दया करके उसकी बुद्धिवृत्ति पर एक पर्दा डाल रखा है। यदि कहीं यह पर्दा उठ जाय तो फिर भाग्य की रुद्रलीला का कैसा भयंकर रूप खुल पड़ेगा। आज दोपहर के समय जब वृक्षों के अन्तराल से यतीन्द्र फागुन के आकाश की ओर ताक रहा था, जिस समय दूर से कटहल की कलियों की मादक सुगन्ध ने मृदुतर होकर उसकी गंधशक्ति को सब ओर से घेर लिया था, उस समय उसके चित्त ने समूचे जगत को माधुर्य के कुहरे से आच्छादित करके देखा। लेकिन अब उस बुद्धिहीन बालिका ने अपनी हिरन-जैसी आँखों से उस सुनहले कुहासे को छिन्न-भिन्न कर डाला है। फागुन के इस कूजन-गुंजन के मरमर के पीछे जो संसार क्षुधा-तृष्णा से आतुर खड़ा है, आज वह उद्घाटित यवनिका के शिल्प-माधुर्य के अन्तराल से साफ दिखाई पड़ा।

दूसरे दिन साँझ के समय चुनिया को वही पीड़ा उठी। पटल ने जल्दी से यतीन्द्र को बुलवा भेजा। यतीन्द्र ने आकर देखा, कष्ट से चुनिया के हाथ-पाँव सुन्न हो गये हैं सारी देह अकड़ गयी है। यतीन्द्र ने दवा लाने के लिए आदमी भेजकर बोतल में पानी लाने की आज्ञा दी। पटल झट से बोल उठी, "वाह, बड़े डाक्टर बने हो—पाँवों में जरा से गरम तेल की मालिश करनी होगी। देखते नहीं, तलुए कैसे बर्फ हो रहे हैं?"

यतीन्द्र ने रोगिणी के तलुओं में गरम तेल की मालिश शुरू कर दी। चिकित्सा इत्यादि करते हुए रात काफी बीत गई। हरकुमार-बाबू कलकत्ते से लौटने पर बार-बार चुनिया की खबर पूछने लगे। यतीन्द्र समझ गया कि साँझ के समय काम-काज से लौटने पर पटल के बिना हरकुमार की अवस्था काफी अचल हो उठी है। बार-बार चुनिया की खबर पूछने का

भेद यही है। वह पटल से बोला, "हरकुमार बाबू छटपटा रहे हैं, तुम जाओ।" पटल बोली, "दूसरों की दुहाई तो दोगे ही।" कौन छटपटा रहा है सो मैं अच्छी तरह समझती हूँ। मेरे जाने से ही अब तुम्हें जरा राहत मिलेगी, है न ? इधर बात-बात में आँख और मुँह बेचारे लाल हो उठते हैं। तुम्हारे पेट में भी इतना कुछ छिपा है, भला कौन समझेगा ?"

यतीन्द्र, "अच्छा, दुहाई तुम्हारी, तुम यहीं ठहरो, मुझे माफ कर दो। तुम्हारा मुँह बन्द रहने से ही मेरी जान बची रहेगी। मैंने गलत समझा था—हरकुमार बाबू शायद परम शान्ति में हैं। ऐसा सुयोग उनके भाग्य में हमेशा नहीं बदा होता ;"

चुनिया ने जरा आराम पाकर जब आँखें खोलीं, तब पटल ने स्नेह-भरे स्वर में कहा, "तेरी आँखें खुलवाने के लिए तेरा वर बड़ी देर से तेरे तलुवे सहलाकर तुझे मना रहा है—इसीलिए क्या तूने इतनी देर की ? छिः छिः, नठ उसके चरणों की धूलि ले।"

चुनिया ने अपने अज्ञात कर्तव्य-बोध से उसी क्षण उठकर गम्भीर श्रद्धा से यतीन्द्र के पावों की धूलि ग्रहण की।

दूसरे ही दिन से यतीन्द्र के साथ बाकायदा उपद्रव शुरू हो गया। यतीन्द्र खाने बैठा तो चुनिया अम्लान-वदन पंखा हाथ में लिए मक्खियाँ हटाने में प्रवृत हो जाती। यतीन्द्र व्यस्त भाव से बोल उठता, "रहने दो, रहने दो, इसकी तनिक भी जरूरत नहीं।" चुनिया ऐसे निषेध से विस्मित होकर मुँह फेरकर पश्चात्वर्ती कमरे की तरफ एक बार ताकती और उसके बाद फिर से पंखा डुलाने लगती। यतीन्द्र अन्तरवर्तिनी को सम्बोधित करके कहता, "पटल, तुम अगर इसी तरह मुझे सताओगी तो मैं हर्गिज नहीं खाऊँगा। यह लो, मैं उठता हूँ।"

एक दिन ऐसा कहते हुए उसके उठने का उपक्रम करते ही चुनिया ने पंखा फेंक दिया। यतीन्द्र को बालिका के चेहरे पर तीव्र वेदना की रेखाएँ साफ दिखाई पड़ीं। खिन्न होकर वह उसी क्षण फिर बैठ गया। चुनिया कुछ भी नहीं समझती, शरमाना उसे नहीं आता, वेदना का

क्या सोचता बैठा रहा। जिस लड़की ने अपने माँ-बाप को भूखों मरते देखा है, उसके जीवन पर कैसी भयंकर छाया आकर पड़ी होगी। ऐसी भयानक घटना के भीतर से आज वह इतनी बड़ी हुई है। उसे लेकर भला कहाँ परिहास किया जा सकता है! यही भला हुआ जो विधाता ने दया करके उसकी बुद्धिवृत्ति पर एक पर्दा डाल रखा है। यदि कहीं वह पर्दा उठ जाय तो फिर भाग्य की रुद्रलीला का कैसा भयंकर रूप खुल पड़ेगा। आज दोपहर के समय जब वृक्षों के अन्तराल से यतीन्द्र फागुन के आकाश की ओर ताक रहा था, जिस समय दूर से कटहल की कलियों की मादक सुगन्ध ने मृदुतर होकर उसकी गंधशक्ति को सब ओर से घेर लिया था, उस समय उसके चित्त ने समूचे जगत को माधुर्य के कुहरे से आच्छादित करके देखा। लेकिन अब उस बुद्धिहीन बालिका ने अपनी हिरन-जैसी आँखों से उस सुनहले कुहासे को छिन्न-भिन्न कर डाला है। फागुन के इस कूजन-गुंजन के मरमर के पीछे जो संसार क्षुधा-तृष्णा से आतुर खड़ा है, आज वह उद्‌घाटित यवनिका के शिल्प-माधुर्य के अन्तराल से साफ दिखाई पड़ा।

दूसरे दिन साँझ के समय चुनिया को वही पीड़ा उठी। पटल ने जल्दी से यतीन्द्र को बुलवा भेजा। यतीन्द्र ने आकर देखा, कष्ट से चुनिया के हाथ-पाँव सुन्न हो गये हैं सारी देह अकड़ गयी है। यतीन्द्र ने दवा लाने के लिए आदमी भेजकर बोतल में पानी लाने की आज्ञा दी। पटल झट से बोल उठी, "वाह, बड़े डाक्टर बने हो—पाँवों में जरा से गरम तेल की मालिश करनी होगी। देखते नहीं, तलुए कैसे बर्फ हो गए हैं!"

यतीन्द्र ने रोगिणी के तलुओं में गरम तेल की मालिश शुरू कर दी। चिकित्सा इत्यादि करते हुए रात काफी बीत गई। हरकुमार-बाबू कलकत्ते से लौटने पर बार-बार चुनिया की खबर पूछने लगे। यतीन्द्र समझ गया कि साँझ के समय काम-काज से लौटने पर पटल के बिना हरकुमार की अवस्था काफी अचल हो उठी है। बार-बार चुनिया की खबर पूछने का

भेद यही है। वह पटल से बोला, "हरकुमार बाबू छटपटा रहे हैं, तुम जाओ।" पटल बोली, "दूसरों की दुहाई तो दोगे ही।" कौन छटपटा रहा है सो मैं अच्छी तरह समझती हूँ। मेरे जाने से ही अब तुम्हें जरा राहत मिलेगी, है न ? इधर बात-बात में आँख और मुँह बेचारे लाल हो उठते हैं। तुम्हारे पेट में भी इतना कुछ छिपा है, भला कौन समझेगा ?"

यतीन्द्र, "अच्छा, दुहाई तुम्हारी, तुम यहीं ठहरो, मुझे माफ कर दो। तुम्हारा मुँह बन्द रहने से ही मेरी जान बची रहेगी। मैंने गलत समझा था—हरकुमार बाबू शायद परम शान्ति में हैं। ऐसा सुयोग उनके भाग्य में हमेशा नहीं बदा होता ;"

चुनिया ने जरा आराम पाकर जब आँखें खोलीं, तब पटल ने स्नेह-भरे स्वर में कहा, "तेरी आँखें खुलवाने के लिए तेरा वर बड़ी देर से तेरे तलुवे सहलाकर तुझे मना रहा है—इसीलिए क्या तूने इतनी देर की ? छिः छिः, नठ उसके चरणों की धूलि ले।"

चुनिया ने अपने अज्ञात कर्तव्य-बोध से उसी क्षण उठकर गम्भीर श्रद्धा से यतीन्द्र के पावों की धूलि ग्रहण की।

दूसरे ही दिन से यतीन्द्र के साथ बाकायदा उपद्रव शुरू हो गया। यतीन्द्र खाने बैठा तो चुनिया अम्लान-वदन पंखा हाथ में लिए मक्खियाँ हटाने में प्रवृत हो जाती। यतीन्द्र व्यस्त भाव से बोल उठता, "रहने दो, रहने दो, इसकी तनिक भी जरूरत नहीं।" चुनिया ऐसे निषेध से विस्मित होकर मुँह फेरकर पश्चात्वर्ती कमरे की तरफ एक बार ताकती और उसके बाद फिर से पंखा डुलाने लगती। यतीन्द्र अन्तरवर्तिनी को सम्बोधित करके कहता, "पटल, तुम अगर इसी तरह मुझे सताओगी तो मैं हर्गिज नहीं खाऊँगा। यह लो, मैं उठता हूँ।"

एक दिन ऐसा कहते हुए उसके उठने का उपक्रम करते ही चुनिया ने पंखा फेंक दिया। यतीन्द्र को बालिका के चेहरे पर तीव्र वेदना की रेखाएँ साफ दिखाई पड़ीं। खिन्न होकर वह उसी क्षण फिर बैठ गया। चुनिया कुछ भी नहीं समझती, शरमाना उसे नहीं आता, वेदना का

और उसे नहीं है—सबकी तरह इन बातों कर यतीन्द्र ने भी विश्वा[illegible]
करना शुरू कर दिया था, लेकिन आज मानों उसने सहसा देखा कि स[illegible]
नियमों का व्यतिक्रम करके अचानक कब-क्या घटित हो जाता है, इ[illegible]
पहले से कोई नहीं कह सकता ! चुनिया पंखा वहीं फेंककर चली गई ।

दूसरे दिन सुबह यतीन्द्र बरामदे में बैठा था । पेड़ पत्तों के बीच
कोयल ने कुछ अधिक बोलना शुरू कर दिया था । आम की मंजरियों की
खुशबू से हवा भारी हो उठी थी । ऐसे ही समय उसने देखा, चुनिया
चाय का प्याला हाथ में लिए नजदीक आने में मानों कुछ हिचक-सी
रही है । उसकी हिरन-जैसी आँखों में जाने कहाँ का एक सकरुण भय
छिपकर आ बैठा है । उसके चाय लेकर आने से यतीन्द्र रीझेगा, इसे जैसे
वह ठीक-ठीक समझ ही नहीं पा रही है । यतीन्द्र ने उठकर आगे बढ़ते
हुए उसके हाथ से चाय का प्याला ले लिया । भला इस मानव-जन्म-
धारी हिरनी के छौने को किसी क्षुद्र कारणवश कहीं पीड़ा दी जा सकती
है ! यतीन्द्र ने प्याला हाथ में लिया ही था कि तभी उसने देखा, बरामदे
के दूसरे छोर से सहसा आविर्भूत होकर पटल ने मौन हास्य-द्वारा यतीन्द्र
को उँगली दिखाई । भाव स्पष्ट था कि अब कैसे हारे !

उस दिन साँझ के समय यतीन्द्र किसी डाक्टरी पत्रिका के पन्ने
उलट रहा था, कि इसी बीच फूलों की खुशबू से चकित होकर उसने सिर
उठाकर देखा, मौलसिरी के फूलों की एक माला हाथ में लिये चुनिया ने
कमरे में प्रवेश किया । यतीन्द्र ने मन ही मन कहा, "यह तो बहुत
ज्यादती हो रही है । पटल के इस निष्ठुर मनोरंजन को अब और अधिक
बढ़ाया नहीं दिया जा सकता । चुनिया से उसने कहा, "छिः छिः चुन्नी,
तुम्हें लेकर तुम्हारी दीदी अपना मनोरंजन किया करती हैं । तुम क्या इतना
भी नहीं समझ पातीं ?"

बात खत्म होने न होने ही चुनिया ने भीत संकुचित भाव से जाने
का उपक्रम किया । यतीन्द्र ने बड़ी जल्दी से उसे बुलाकर कहा, "देखूँ
जरा, तुम्हारी माला तो देखूँ !" कहते हुए माला उसने हाथों में ले ली ।

चुनिया के मुख पर आनन्द की उज्जवल रेखा-सी फूट उठी। ठीक उसी हुए अन्तराल से किसी के अट्टहास की उच्छ्वसित ध्वनि सुनाई पड़ी।

दूसरे दिन सुबह उपद्रव के लिये पटल ने यतीन के कमरे में जाकर देखा कि कमरा सूना पड़ा है और कागज पर सिर्फ इतना लिखा पड़ा है, "भागा जा रहा हूँ।—यतीन।"

"अरी ओ, चुनिया! तेरा वर तो भाग निकला। उसे तू रोक भी नहीं पाई!" कहते हुए चुनिया की वेणी पकड़कर डुलाते हुए वह घर के काम-धन्धे में लग गई।

इस छोटी-सी बात को समझ लेने में चुनिया को जरा समय लगा। वह तसवीर की तरह खड़ी स्थिर दृष्टि से सामने की ओर ताकती रही। उसके बाद धीरे-धीरे यतीन्द्र के कमरे में आकर उसने देखा, कमरा खाली पड़ा है। उसकी पिछली साँझ की दी हुई वह माला उसी तरह मेज पर पड़ी है।

उस दिन वसन्त का सवेरा बड़ा स्निग्ध और सुन्दर जान पड़ा। कम्पित कृष्णचूड़ा-तरु की शाखाओं के भीतर से छनकर और छाया के साथ घुल-मिलकर सुबह की धूप बरामदे में आ रही है। गिलहरी अपनी पूँछ को पीठ की ओर फेंके इधर से उधर व्यस्त होकर दौड़ रही है। सारे पक्षी एक साथ मिलकर नाना सुरों में गीत गा-गाकर भी अपने वक्तव्य को मानों किसी भी तरह पूरा नहीं कर पा रहे हैं। दुनिया के इस छोटे से कोने में, इस घनपल्लव, छाया और धूप-निर्मित संसार के तनिक से खण्ड के भीतर प्राणों का आनन्द पूरी तरह खिल उठा है। इसी एक कोने के बीच यह बुद्धिहीन बालिका अपने जीवन का, अपने आसपास के समूचे परिवेश का कोई समीचीन अर्थ नहीं खोज पा रही है। उसके लिये आज भी सब कुछ एक दुरूह पहेली है। यह क्या हो गया, और ऐसा हुआ तो क्यों? और फिर उसके बाद यह प्रभात, यह घर, यह सभी कुछ एक ही साथ भला इतना सूना क्यों हो गया? जिसके भीतर समझने की शक्ति इतनी कम थी, उसी को अचानक एक दिन हृदय की अतल

वेदना के रहस्य-गर्भ के अन्धकार में बिना दीपक के सहसा किसने उतार दिया ?

पटल ने विस्मित होकर कहा, "यह क्या हो रहा है, चुनिया ?"

चुनिया उठी नहीं, जैसी थी वैसी ही पड़ी रही। पटल ने नजदीक आकर जैसे ही उसे स्पर्श किया कि वह उच्छ्वसित होकर फूट-फूटकर रो पड़ी।

पटल अचानक चकित होकर बोल उठी, "ओ जलमुँही तूने सत्यानाश किया। भला तू क्यों मरने गई ?" चुनिया की अवस्था सूचित करते हुए पटल ने हरकुमार से जाकर कहा, "यह लो, अच्छी विपदा बैठे-ठाले मोल ले ली। आखिर तुम भला क्या कर रहे थे—तुमने मुझे रोका क्यों नहीं ?"

हरकुमार बोले, "तुम्हें रोकने की मेरी कभी आदत ही नहीं रही। और रोकने से ही क्या कोई खास नतीजा निकलता ?"

"तो आखिर तुम पति ही कैसे हो ? मैं अगर गलती करूँ तो क्या तुम जबर्दस्ती मुझे नहीं रोक सकते ? भला यह खेल तुमने मुझे खेलने ही क्यों दिया ?" यह कहकर वह दौड़ती हुई गई और धराशायी बालिका के गले से चिपटकर बोली; "मेरी रानी बहन ! तू क्या चाहती है, जरा एक बार मुझे खोलकर कह।"

हाय ! चुनिया के पास ऐसी कौन-सी भाषा है, जो वह अपने हृदय का अव्यक्त रहस्य, वाणी के द्वारा सुना सके। वह छाती की सारी पीड़ा लिये मानो किसी अनिर्वचनीय वेदना में जा पड़ी है। यह कैसी वेदना है, संसार में और भी किसी को क्या ऐसी ही अनुभूति होती है ? दुनिया उसके बारे में क्या कहती होगी ?—इत्यादि के विषय में चुनिया कुछ भी तो नहीं जानती। वह केवल अपनी रुलाई के द्वारा ही कुछ कह सकती है। मन की बात बताने का और कोई उपाय उसे ज्ञात ही नहीं।

पटल बोली, "चुनिया, तेरी दीदी बड़ी शरारतिन है, लेकिन उसकी बात पर तू इस तरह विश्वास कर बैठेगी, यह तो उसके ख्याल में भी नहीं

आया था। कोई तो कभी उसकी बात पर विश्वास नहीं करता, तब तू ही ऐसी भूल करने क्यों गई ! चुनिया, एकबार मुँह उठाकर अपनी दीदी की ओर देख—उसे माफ़ कर दे, बहन !"

लेकिन चुनिया का मन उस समय विमुख हो चुका था। वह किसी भी तरह पटल के मुँह की तरफ़ ताक नहीं सकी, बल्कि और भी ज़ोर से हाथों में अपना सिर गड़ाये रही। उसने सारी बातें अच्छी तरह न समझने पर भी एक प्रकार के मूढ़ भाव से पटल पर क्रोध किया था। पटल तब धीरे-धीरे बाहुपाश खोलकर चुपचाप उठकर चली गई। पत्थर की की तरह खिड़की के पास स्तब्ध भाव से जाकर आँसू बहाने लगी।

दूसरे दिन चुनिया दिखाई नहीं दी। पटल उसे बड़े दुलार से अच्छे-अच्छे गहने और कपड़े पहनाकर सजाया करती थी। वह खुद बड़ी बेतरतीबी से रहती, अपनी खुद की सजावट के बारे में कभी कोई जतन नहीं करती, लेकिन सज-धज की सारी साध चुनिया को सजाकर ही पूरी कर लेती थी। बहुत दिनों के संचित वे सारे गहने-कपड़े चुनिया के कमरे में धरती पर पड़े हुए थे। अपने हाथों के कंगन और चूड़ियाँ तथा नाक की लौंग तक वह उतार डाल गई। अपनी पटल दीदी के इतने दिनों के लाड़दुलार को मानों अपनी देह से बिल्कुल ही मिटा डालने का उसने प्रयत्न किया है।

हरकुमार बाबू ने पता लगाने के लिए पुलिस में खबर दी। उन दिनों प्लेग-दमन की विभीषिका से संत्रस्त होकर इतने आदमी इतनी विभिन्न दिशाओं से प्राण लेकर भाग रहे थे कि उन भगोड़ों के दल में से किसी एक विशेष व्यक्ति को ढूँढ़ निकालना पुलिस के लिए कठिन था। हरकुमार बाबू को दो-चार गलत व्यक्ति का पता लगने पर काफी दुःखी और लज्जित होना पड़ा।

अन्त में उन्होंने चुनिया की आशा छोड़ दी। एक दिन जिसे अज्ञात की गोद में पड़ा पाया था, वही आज फिर उसी अज्ञात के क्रोड़ में अंतर्धान हो गई।

यतीन्द्र ने बड़ी कोशिश के बाद उन्हीं दिनों प्लेग-अस्पताल में डाक्टर का पद पाया था। एक दिन दोपहर को खाना-पीना निबटाकर जब वह अस्पताल पहुँचा तो सुना कि जनाने-वार्ड में कोई नई रोगिणी दाखिल हुई है। पुलिस उसे रास्ते से उठा लायी है।

यतीन्द्र उसे देखने गया। लड़की के मुँह का अधिकांश भाग चादर से ढँका था। यतीन्द्र ने पहले हाथ उठाकर उसकी नाड़ी देखी। ज्वर अधिक नहीं था, लेकिन कमज़ोरी बेहद थी। इसलिए परीक्षा के लिए उसने चेहरे पर से चादर सरकाकर देखा—चुनिया थी!

इस बीच यतीन्द्र पटल से चुनिया का सारा वृतान्त पा चुका था। काम-काज के अवकाश के समय यतीन्द्र की ध्यान-दृष्टि पर, अव्यक्त हृदय-भाव के घूँघट से आच्छन्न चुनिया की हिरन जैसी आँखें सदा एक प्रकार की अश्रुहीन कातरता बिखरा दिया करती थीं। आज रोग-निमीलित नेत्रों की बड़ी-बड़ी पलकों ने चुनिया के शीर्ण कपोलों पर घनी छाया-रेखा खींच दी थी। देखते ही यतीन्द्र की छाती के भीतर मानो किसी ने सहसा पहाड़-जैसा कोई बोझा दबा दिया। इस एक बालिका को विधाता ने स्वयं ही फूल की तरह सुकुमार रूप में गढ़कर फिर दुर्भिक्ष से खींचकर महामारी के अंत में क्योंकर बहा दिया। आज उसके क्षीण-मृदु प्राण रोग से क्लिष्ट होकर बिछौने पर पड़े हैं। उसकी इतने दिनों की नन्हीं-सी उम्र ने विपत्तियों के इतने बड़े आघात, वेदना का इतना भारी बोझा आखिर कैसे सह लिया! यतीन्द्र ही भला उसके जीवन में एक तीसरे संकट की तरह कहाँ से आकर विजड़ित हो बैठा। रुद्ध दीर्घविश्वास यतीन्द्र के रुद्ध द्वार पर लगातार धक्का देने लगा। किन्तु उसी आघात की चोट से उसके हृदय के तार में किसी अज्ञात सुख की एक मीड़-सी बज उठी। जो प्रीति संसार में दुर्लभ होती है, वही फागुन की किसी दुपहरिया में पूर्ण विकसित माधवी-मंजरी के समान अयाचित और अकस्मात ही उसके पाँवों के निकट खिसककर आ पड़ी है। जो प्रेम इस प्रकार मृत्यु के द्वार तक आकर

मूर्छित होकर गिर पड़ता है, ऐसे देवभोग्य नैवेद्य का अधिकारी पृथ्वी में इस तरह अनायास ही भला कौन हुआ है !

यतीन्द्र चुनिया की बगल में बैठकर थोड़ा-थोड़ा गरम दूध पिलाने लगा। पीते-पीते काफी देर के बाद चुनिया ने लम्बी साँस लेकर आँखें खोलीं। यतीन्द्र के मुँह की ओर देखकर किसी सुदूर स्वप्न की तरह उसने उसे याद करने की चेष्टा की। यतीन्द्र ने जैसे ही उसके कपाल पर हाथ रखकर तनिक हिलाते हुए उससे कहा, "चुनिया।" वैसे ही उसकी मूर्च्छा की अंतिम खुमारी भी अचानक टूट गई। यतीन्द्र को उसने पहचान लिया और उसी के साथ उसकी दृष्टि पर किसी वाष्पकोमल मोह का झीना आवरण पड़ गया। प्रथम मेघों के समागम के साथ आषाढ़ के सुगंभीर आकाश में जैसी गहरी छाया छा जाती है, चुनिया की कानी आँखों पर वैसी ही सुदूरव्यापी सजल स्निग्धता घनीभूत हो आई।

करुणाभरे दुलार के साथ यतीन्द्र ने कहा, "चुन्नी, यह थोड़ा-सा दूध और पी लो।"

चुनिया तनिक उठकर बैठ गई। फिर प्याले पर से यतीन्द्र के मुँह की ओर दृष्टि स्थिर रखे हुए उसने धीरे-धीरे बाकी दूध भी खत्म कर डाला।

अस्पताल का डाक्टर अगर एक ही रोगी के सिरहाने बराबर बैठा रहे तो काम भी नहीं चले और अच्छा भी नहीं जान पड़े। अतएव दूसरी जगह कर्तव्य निभाने के लिए यतीन्द्र जब उठा तो भय और निराशा से चुनिया की आँखें व्याकुल हो उठीं। यतीन्द्र ने उसका हाथ थामकर आश्वासन देते हुए कहा, "मैं अभी वापस आता हूँ चुन्नी, डरने की कोई बात नहीं है।

यतीन्द्र ने अधिकारियों को खबर दी कि इस नई लायी हुई रोगिणी को प्लेग नहीं है, वह केवल अनाहार के कारण क्षीण हो पड़ी है। यहाँ प्लेग के अन्य रोगियों के साथ रख छोड़ने से उस पर व्यर्थ मुसीबत आ सकती है। अतएव इसे यहाँ से अन्यत्र ले जाने के लिये उसने खास तौर से इजाज़त ले ली और अपने निवासस्थान पर ले आया। सारा समाचार देते हुए उसने पटल को एक चिट्ठी भी डाल दी।

उस दिन साँझ के समय घर में रोगी और चिकित्सक के सिवा और कोई नहीं था। सिरहाने के पास रंगीन काग़ज़ के आवरण से घिरा किरा-सिन तेल का लैम्प छायामयी धीमी रोशनी फैला रहा था। ब्रैकेट पर रखी हुई घड़ी निस्तब्ध कमरे में टिकटिक शब्द का हल्का पालना झुला रही थी।

यतीन्द्र ने चुनिया के मस्तक पर हाथ फेरकर कहा, "अब कैसा लगता है, चुन्नी?"

चुनिया ने इसका कोई जवाब न देते हुए केवल यतीन्द्र का हाथ अपने हाथों से मस्तक पर ही दबा रखा।

यतीन्द्र ने फिर पूछा, "अच्छा लगता है?"

चुनिया ने आँखों को तनिक मूँदकर व्यक्त किया, "हाँ।"

यतीन्द्र ने पूछा, यह तुम्हारे गले में, "क्या है चुन्नी?"

चुनिया ने जल्दी-जल्दी साड़ी खींचकर ढक लेने की कोशिश की। यतीन्द्र ने देखा कि मौलश्री के फूलों की एक सूखी-सी माला है। घड़ी के टिकटिक शब्द के बीच यतीन्द्र चुपचाप बैठे-बैठे सोचने लगा। अपनी किसी बात को छिपाने की यह चुनिया की पहली चेष्टा है—जी के भाव को आँखों की ओट गोपन रखने का यह पहला प्रयास है। चुनिया मानों पहले एक मृगछौना थी—मालूम नहीं किस घड़ी वह हृदय-भार से आतुर युवती नारी हो उठी। किस धूप के उजाले में—उसकी आँच से—चुनिया की समझ पर छाया हुआ कुहरा छट गया—उसकी लज्जा, शंका, वेदना सभी आज अकस्मात् प्रकाशित हो पड़े।

रात दो-ढाई बजे के लगभग चौकीपर बैठे-बैठे ही यतीन्द्र की आँख लग गई। अचानक द्वार खुलने की आवाज़ से चौंककर वह उठ बैठा। देखा पटल और हरकुमार बाबू बड़ा-सा बेग लिये हुए कमरे में प्रवेश कर रहे हैं।

हरकुमार बाबू बोले, "तुम्हारी चिट्ठी पाकर सुबह ही चल देने का इरादा करके मैं रात को सोने गया। लगभग आधी रात के समय पटल ने

कहा,—"अजी सुनते हो, कल सुबह जाने पर चुनिया को नहीं देख पाऊँगी। मुझे इसी समय जाना होगा। उसे किसी भी तरह समझा नहीं पाया। तब चटपट एक गाड़ी किराये पर लेकर हम लोग उसी समय निकल पड़े।"

पटल ने हरकुमार बाबू से कहा, "आओ, यतीन के बिछौने पर सो जाओ।" हरकुमार थोड़ी-सी आपत्ति प्रकट करते हुए यतीन के कमरे में जाकर लेट गये और फिर उन्हें नींद आते भी कोई देरी नहीं लगी।

कमरे में लौटने पर पटल ने यतीन्द्र को एक कोने में बुलाकर पूछा, "कुछ आशा है?"

यतीन्द्र ने चुनिया की नाड़ी देखकर सिर हिलाते हुए बताया कि कोई आशा नहीं। पटल ने चुनिया के निकट अपने को प्रकट किये बिना ही यतीन्द्र को ओट में ले जाकर कहा, "यतीन्द्र, सच बताना, तुम क्या चुनिया को नहीं चाहते?"

यतीन्द्र ने पटल को कोई उत्तर नहीं दिया। वह केवल चुनिया के बिस्तर के किनारे जाकर बैठ गया। उसका हाथ अपने हाथों में दबाते हुए उसने धीमे से पुकारा, "चुन्नी, चुन्नी!" चुनिया ने आँखें खोलकर मुख पर शान्त मधुर हँसी का आभास लाते हुए कहा, "क्या है, भैयाजी!"

यतीन्द्र बोला, "चुन्नी, अपनी यह माला तुम मेरे गले में पहना दो!" वह अनिमेष और विमूढ़ आँखों से केवल यतीन्द्र के मुँह की ओर ताकती भर रह गई।

यतीन्द्र बोला, "अपनी माला क्या तुम मुझे नहीं दोगी, चुन्नी?"

यतीन्द्र के निकट इस तनिक से दुलार का अवलम्ब पाकर चुनिया के चित्त में पूर्वकृत अनादर का थोड़ा-सा अभिमान जाग उठा। बोली, "इससे क्या होगा, भैयाजी?"

यतीन्द्र ने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में समेटते हुए कहा, "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, चुन्नी!"

सुनकर घड़ी भर के लिए चुनिया स्तब्ध रह गई—फिर उसकी दोनों आँखों से अविरल नीर झरने लगा। यतीन्द्र बिस्तर से उतरकर धरती पर

घुटने टेककर बैठ गया और चुनिया के हाथों के पास उसने अपना मस्तक रख दिया। चुन्नी ने गले की माला उतारकर यतीन्द्र के गले में पहना दी।

तब पटल ने पास आकर पुकारा "चुनिया!" चुनिया का शीर्ण मुख सहसा उज्ज्वल हो आया, बोली, "क्या है, जीजी?"

पटल उसके हाथ अपने हाथों में थामकर बोली, "अब तो तू मुझ पर नाराज नहीं है न बहन!" चुनिया ने स्निग्ध-कोमल दृष्टि से कहा, "नहीं जीजी!" पटल बोली, "यतीन्द्र! तुम जरा थोड़ी देर के लिये उस कमरे में जाकर तो बैठो।"

यतीन्द्र के जाते ही पटल ने बेग खोलकर उसमें से सारे गहने-कपड़े निकाल डाले, फिर रोगिणी को बिना अधिक हिलाये-डुलाये उसने खूब सावधानी से एक बनारसी साड़ी उसने मलिन वस्त्रों पर घेर दी। एक-एक करके हाथों में कुछ चूड़ियाँ पिरो दीं, कंगन भी पहना दिये। इसके बाद बाहर आवाज दी, "यतीन्द्र!"

यतीन्द्र आ गया। तब उसे शैया पर बिठाकर पटल ने उसके हाथों में चुनिया का एक सोने का हार थमा दिया। यतीन्द्र ने धीरे-धीरे चुनिया का सिर ऊँचा करके हार उसके गले में पहना दिया।

नवीन प्रभात में जब भोर का उजाला चुनिया के मुँह पर आकर पड़ा, तब उस उजाले को देखने के लिये वह नहीं थी। उसके अम्लान मुख की कान्ति देखकर ऐसा नहीं लगता था कि वह मृत हो चुकी है, बल्कि यही जान पड़ता था मानों किसी अतलस्पर्शी सुख-स्वप्न में वह सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो चुकी है।

जब मृतदेह को लेकर चलने का समय हुआ तब पटल चुनिया की छाती पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और पुकार उठी, "बहन, तेरे भाग्य अच्छे थे। जीवन की अपेक्षा तेरी मौत अधिक सुख की हुई!"

चुनिया की शांत स्निग्ध मृत्युच्छवि की ओर देखते हुए यतीन्द्र के अन्तर में बार-बार यही एक भाव उठने लगा, "जिनका धन था, उन्होंने ले लिया—किन्तु मुझे भी वंचित नहीं किया।"

वैष्णवी

हालाँकि मैं लिखा करता हूँ, फिर भी लोकरंजन मेरी लेखनी का धर्म नहीं है, इसलिए लोग भी मुझे हमेशा जिस रंग में रंजित किया करते हैं उसमें "स्याही" (या कालिमा) का अंश ही अधिक रहा करता है। अपने संबंध में बहुत-सी बातें सुननी पड़ती हैं, भाग्य के फेर से ये बातें हितकर नहीं होतीं, मन को सुख देनेवाली तो बिल्कुल हो नहीं होतीं।

जो आदमी गालीगलौज सुनते-सुनते बड़ा होता है, वह अपने स्वभाव को भूलकर जैसे एक तरफ झुकनेवाला बन जाता है—अपने आसपास के सब कुछ को छोड़कर वह सिर्फ अपने को ही याद किया करता है। इसमें न तो आराम है और न कल्याण ही। आराम तो अपने को भूलने में है। इसलिए मैं हमेशा निर्जन स्थान की तलाश में रहता हूँ। मनुष्यों के धक्के सहते-सहते मन के चारों ओर जो स्थान पिचक गये होते हैं, वे विश्व-प्रकृति के सेवा-निपुण हाथों से भर जाया करते हैं।

कलकत्ते से दूर, एकान्त में मेरे अज्ञातवास का एक स्थान निश्चित है। वहाँ मैं अपने को निज-चर्चा में अन्तर्धान रखा करता हूँ। वहाँ के लोग-बाग अब भी मेरे विषय में किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँचे हैं। उन्होंने देखा है कि मैं भोगी नहीं हूँ, क्योंकि मैं देहात की रात को कलकत्ते की कालिमा से मलिन नहीं करता। लेकिन योगी भी नहीं हूँ, क्योंकि दूर से मेरा जो कुछ परिचय मिलता है, उसमें धनी होने के लक्षण मौजूद हैं। मैं मुसाफिर नहीं हूँ, गाँव के रास्ते पर चक्कर जरूर काट लेता हूँ, पर कहीं पहुँचने की ओर मेरा लक्ष्य नहीं होता। फिर यह कह सकना भी मुश्किल है कि मैं गृहस्थ हूँ, क्योंकि इस बात का कोई सबूत इन लोगों को अभी तक नहीं मिल सका है कि मेरे घर में कोई आदमी भी है। इसीलिए परिचित प्राणियों के किसी प्रचलित खाने में न रख सकने के कारण गाँव के

आदमियों ने एक तरह से मेरे बारे में सोचना ही छोड़ दिया है—मैं भी निश्चिंत हूँ।

थोड़े ही दिन हुए खबर मिली है कि इस गाँव में एक ऐसा व्यक्ति भी है, जिसने मेरे बारे में अपनी कोई राय बना ली है, कम-से-कम उसने मुझे मूर्ख नहीं समझा है।

उसके साथ जब पहली मुलाकात हुई उस दिन आषाढ़ की संध्या का समय था। रुलाई ख़तम हो जाने पर भी आँखों की पलकों के भींगे रहने पर जैसा भाव होता है, कुछ वही भाव वृष्टि समाप्त हो जाने के बाद समस्त लता-गुल्म और आकाश में भरा हुआ था। अपने तालाब की ऊँची भींट पर खड़ा होकर मैं एक गाय को घास चरते हुए देख रहा था। उसकी चिकनी देह पर धूप पड़ रही थी, उसे देखकर मैं सोच रहा था कि आकाश के प्रकाश से अपने शरीर को बचा रखने के लिए सभ्यता ने जो इतनी दर्जी की दूकानें खोल रखी हैं, वे फिजूलखर्ची से बढ़कर और कुछ नहीं हैं।

इसी समय अचानक क्या देखता हूँ कि एक अधेड़ स्त्री साष्टांग प्रणाम कर रही है। उसके आँचल में दो दोने थे जिनमें कुछ कनेर, गंधराज और इसी तरह के फूल थे। उनमें से एक दोने को निकालकर मेरे हाथ में देते हुए वह भक्तिपूर्वक बोली, "यह मैंने अपने ठाकुर को दिया!" और यह कहकर वह चली गई।

मैं कुछ ऐसा विस्मित हुआ कि उसे भली-भाँति देख ही नहीं सका।

यह घटना बहुत मामूली थी, परन्तु कुछ इस ढंग से घटित हुई थी कि वह गाय जो सायंकाल की धूसर धूप में पूँछ हिलाकर मक्खियों को भगाती हुई लंबी-लंबी साँस लेकर नववर्षा की रस-कोमल घास को शांति-पूर्वक आनन्द के साथ चर रही थी, उसकी जीवनलीला मुझे बहुत मनोहर लगी। यह सब सुनकर लोग हँसेंगे, लेकिन मेरा मन सचमुच ही भक्ति से भर उठा। मैंने सहज आनंदमय परमेश्वर को प्रणाम किया। बगीचे के आम के पेड़ से पत्ते सहित एक आम तोड़कर मैंने गाय को खिलाया। मुझे ऐसा लगा जैसे मैंने देवता को सन्तुष्ट कर दिया।

इसके दूसरे साल जब मैं वहाँ पहुँचा तब माघ का अन्त हो रहा था। उस वर्ष तब भी ठंड पड़ रही थी। सवेरे की धूप खिड़की की राह मेरी पीठ पर आ रही थी। मैं दूसरी मंजिल पर अपने कमरे में लिख रहा था। इसी बीच नौकर ने आकर ख़बर दी कि आनंदी वैष्णवी मुझसे भेंट करना चाहती हैं। मुझे मालूम नहीं था कि यह कौन हैं, मैंने अन्यमनस्क होकर बोला, "अच्छा, यहीं लिवा लाओ।"

वैष्णवी ने आते ही मेरे पैरों की धूल लेकर प्रणाम किया। मैंने देखा, यह तो वही मेरी पूर्वपरिचिता स्त्री है। वह सुंदर है या नहीं, यह प्रकट होने की उसकी उम्र पार हो चुकी थी। दुहरा शरीर, साधारण से लंबा। एक नियत भक्तिवश उसका शरीर नम्र है, फिर भी सशक्त और निस्संकोच है। सबसे पहले उसकी आँखों पर ही नज़र जाती है। भीतर की किसी विशेष वस्तु के कारण उसकी वे बड़ी-बड़ी आँखें मानों किसी दूर की चीज़ को नज़दीक करके देख रही थीं।

अपनी उन्हीं आँखों से जैसे धक्का देकर उसने कहा, "अच्छा, भला तुमने यह क्या अनर्थ किया? मुझे इस राज-सिंहासन के सामने हाज़िर करने से क्या लाभ? तुम्हें पेड़ के नीचे देख लिया करती थी, वही अच्छा था।"

मैं समझ गया, पेड़ के नीचे इसने मुझे बहुत बार देखा है, किन्तु मैंने इसे नहीं देखा। कई दिनों से कुछ जुकाम-सा था, इसीलिए रास्ते और बगीचे में घूमना बंद करके छत पर ही टहल लिया करता था। इसीलिए उसने कई दिनों से मुझे देखा नहीं था।

ज़रा रुककर वह बोली, "गौर मुझे कुछ उपदेश दो।"

बंगाल के वैष्णव लोग श्री चैतन्यदेव को श्रीकृष्ण का अवतार मानते हैं। उनका शरीर गोरा था, इसीलिये उनका एक नाम "गौर" भी है।

मैं संकट में पड़ गया। बोला, "मैं उपदेश दे भी नहीं सकता, ले भी नहीं सकता। आँख बंद करके चुपचाप जो पा जाता हूँ, उसी के भरोसे

मेरा काम चला करता है। यह जो तुम्हें देख रहा हूँ, इसी से मेरा देखना भी हो रहा है, सुनना भी हो रहा है।"

वैष्णवी अत्यन्त प्रसन्न होकर "गौर! गौर!" कह उठी। फिर बोली, "भगवान् के पास केवल वाणी ही नहीं है; वे तो अंग-अंग से बातें करते हैं।"

मैंने कहा, "चुप रहने से ही उनके अंग-अंग की वाणी सुनाई देती है। उसे सुनने के लिए ही शहर छोड़कर यहाँ आया करता हूँ।"

उसने कहा, "यह मैं समझ गई हूँ। इसीलिए तो तुम्हारे पास आकर बैठी हूँ।"

जाते समय वह मेरे पैर की धूल लेने लगी तो मैंने देखा कि मेरे मोजे पर हाथ रखने में उसे बड़ी बाधा मालूम हुई!

दूसरे दिन सबेरे सूर्योदय के पूर्व ही मैं छत पर आ बैठा। दक्षिण की ओर बगीचे के झाऊ के वृक्षों के सिर से दिगन्त की सीमा तक मैदान सायँ-सायँ कर रहा था। प्रतिदिन बाँस-वन से घिरे इस गाँव के पास जो ईख का खेत है उसी के किनारे से सूर्योदय होता हुआ दिखाई देता है। गाँव का रास्ता वृक्षों की घनी छाया में से एकाएक निकलकर खुले मैदान में होता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा दूर के गाँव तक चला गया है। सूर्योदय हुआ है या नहीं, ठीक नहीं मालूम। लेकिन एक सफेद कुहरे की चादर विधवा के घूँघट की तरह गाँव के वृक्षों के ऊपर खिंच आई है। मैंने देखा वैष्णवी उसी प्रातःकालीन धुँधले प्रकाश में एक कुहासे की मूर्ति की तरह कर-ताल बजाकर कीर्तन करती हुई पूर्व के गाँव की ओर से चली आ रही है।

तंद्रा भंग होने पर जैसे आँख की पलक खुल जाती है, उसी प्रकार कुहासा धीरे-धीरे गायब हो गया और सारे मैदान और घर के भीतर धूप इस तरह आकर बैठ गई, जैसे गाँव के बूढ़े दादा आकर जम गये हों। मैं उस समय सम्पादक के चपरासी को विदा करने के लिये कुछ लिख रहा था कि इतने में गान का स्वर सुनाई दिया। वैष्णवी गुनगुनाती

है और पांच जने और भी खा लेते हैं, लेकिन फिर भी वह खतम होने का नाम नहीं लेता। यह कहकर वह ज़रा हंसी और कहने लगी, "मेरे यहाँ तो सब-कुछ था—सब छोड़ आई हूँ, और फिर भी दूसरों से मांग-मांगकर संग्रह करती हूँ। अच्छा, इसकी क्या ज़रूरत थी भला, बताओ तो ?"

मैं यदि शहर में होता और यह सवाल उठता तो आसानी से नहीं छोड़ता। भीख मांगने के रोज़गार ने समाज का कितना अनिष्ट किया है, यह बात समझाता। परन्तु इस स्थान पर आते ही हमारी पुस्तकी विद्या का तीखापन एकदम मर जाता है। वैष्णवी के सामने मेरे मुंह से कोई तर्क निकला ही नहीं,—मैं चुप हो रहा। मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह आप ही बोल उठी, "बात यह है कि यही मेरे लिए अच्छा है। माँगकर जो खाती हूँ, वही अन्न मेरे लिए अमृत है !"

उसके कथन का भाव मैं समझ गया। जो भगवान् प्रतिदिन अन्न की व्यवस्था कर देते हैं, भिक्षा के अन्न से बराबर उन्हीं की याद आती है, और घर के अन्न से मालूम होता रहता है कि यह मेरा ही अन्न है, मैं इसे अपनी शक्ति से भोग कर रहा हूँ।

इच्छा थी कि उसके पति के घर की बात पूछूँ, पर उसने स्वयं ही इनकार कर दिया और मैंने भी फिर नहीं पूछा।

इस गाँव के जिस टोले में ऊँची जाति के लोग रहते हैं, उसके प्रति वैष्णवी के मन में कोई श्रद्धा नहीं थी। कहती, वे लोग ठाकुर को कुछ भी नहीं देते और फिर भी ठाकुर के भोग में वही लोग सबसे अधिक हिस्सा ले बैठते हैं। ग़रीब बेचारे भक्ति करते हैं और भूखों मरते हैं।

उस मुहल्ले के दुष्कर्म की बातें बहुत सुनी हैं, इसीलिए मैं बोला, "इन दुर्बुद्धि लोगों के बीच रहकर इनकी मति-गति ठीक करो, इसी से तो भगवान् की सेवा होगी !"

इस प्रकार के मूल्यवान उपदेश मैंने बहुत सुने हैं, दूसरों को सुनाने में मुझे मज़ा भी आता है किन्तु वैष्णवी इससे विस्मित नहीं हुई। मेरे मुँह की ओर अपनी चमकदार आँखों को जमाकर वह बोल उठी, "तुम

कहते हो भगवान् पापी में भी रहते हैं, इसीलिए उनका साथ करने से भी उन्हीं की पूजा होती है। यही न ?"

मैंने कहा, "हाँ।"

वह बोली, "जब ये लोग जीवित हैं, बचे हुए हैं, तो निश्चय ही भगवान् उनमें हैं। इसमें क्या संदेह है ? किन्तु मेरी पूजा तो वहाँ नहीं चल सकती—मेरे भगवान् उनमें नहीं हैं। वे जहाँ हैं, वहीं पर मैं उन्हें ढूँढ़ती हूँ।" कहकर उसने मुझे प्रणाम किया। उसके कहने का मतलब यह था कि सिर्फ मत को लेकर क्या होगा, सत्य चाहिये। भगवान् सर्वव्यापी हैं यह एक "मत" है—किन्तु मैं जहाँ उन्हें देखूँ वहीं पर वे मेरे "सत्य" हैं।

यद्यपि कहना बेकार है, फिर भी यह बता देना जरूरी है कि मुझे उपलक्ष्य करके वैष्णवी जो भक्ति करती थी, उसे मैं न तो ग्रहण करता था और न लौटाता ही था। इस युग की छूत मुझे लगी है। मैं गीता पढ़ा करता हूँ और विद्वानों के यहाँ हाज़िरी देकर धर्मतत्व की अनेक-सूक्ष्म व्याख्याएँ सुन चुका हूँ। सुनते-सुनते ही उम्र खतम होने को आई, लेकिन कहीं भी कुछ प्रत्यक्ष नहीं देख सका। इतने दिन बाद अपनी दृष्टि का अहंकार छोड़कर इस शास्त्रहीन स्त्री की आँखों में सत्य को देख पाया। भक्ति करने के बहाने शिक्षा देने की यह कैसी अद्भुत प्रणाली है।

दूसरे दिन सवेरे वैष्णवी जब मुझे प्रणाम करने आयी तब भी मैं लिखने में लगा था। वह कुछ चिढ़कर बोली, "तुमसे मेरे ठाकुर इतनी झूठ-मूठ क्यों पिसाई करा रहे हैं, जब आती हूँ, तुम्हें लिखते ही पाती हूँ!"

मैंने कहा, "जो आदमी किसी काम का नहीं होता, उसे ठाकुर चुप नहीं बैठने देते, चुप बैठने से उसके मिट्टी में मिल जाने की आशंका रहती है। जितने बेकार के काम हैं उन सबको करने का भार वे उस पर देते हैं।"

मुझे कई पर्दों में ढँका देखकर वह अधीर हो जाती। मेरे पास आने के लिए पहले इजाज़त लेनी होती है, फिर दुतल्ले पर चढ़ना पड़ता है, पैर छूते समय हाथ मोजों पर ही लगते हैं। फिर, उसे दो-एक सीधी-सादी बातें करनी होती हैं और मेरा मन किसी लेख में डूबा रहता है!

वह हाथ जोड़कर बोली, "गौर, आज सवेरे बिछौने से उठकर ज्यों ही बैठी, तुम्हारे चरण पा गयी। अहा, वे तुम्हारे पैर किसी चीज़ से ढँके नहीं थे—कितने शीतल थे वे! कितने कोमल! कितनी देर तक मैं उन्हें सिर से लगाये रही! प्रभु, यह मेरा मोह तो नहीं है, ठीक-ठीक बताओ।"

मेरी मेज पर पहले दिन के कुछ बासी फूल थे। माली आया और उन्हें निकालकर फूलदान में ताजे फूल सजाने लगा। वैष्णवी कुछ व्यथित होकर बोली, "बस? ये फूल अब खतम? तुम्हें अब इनकी ज़रूरत नहीं? तो फिर दे दो, मुझे दे दो!" यह कहकर उसने फूलों को अंजलि में भर लिया और बड़ी देर तक उन्हें स्नेहपूर्वक एकटक देखती रही। कुछ देर बाद मुँह उठाकर बोली, "तुम इनकी ओर देखते नहीं, इसीलिए ये फूल तुम्हारे पास मलिन हो जाते हैं। जब इनकी ओर देखने लगोगे तो लिखना-पढ़ना सब भूल जायगा।"

यह कहकर उसने बड़ी सावधानी से फूलों को अपने आँचल में बाँध लिया। उन्हें सिर से लगाती हुई बोली, "अपने ठाकुर को मैं ले जाती हूँ।"

यह समझने में मुझे देर नहीं लगी सिर्फ फूलदान में रख देने से ही फूल का आदर नहीं होता। ऐसा जान पड़ा की स्कूल में पढ़ने में मन न लगाने वाले बच्चों की तरह मैं फूलों को बेंच पर खड़ा करके रखता हूँ!

उस दिन शाम को मैं छत पर बैठा था, वैष्णवी आकर मेरे पैरों के पास बैठ गई और बोली, "आज सवेरे नाम-कीर्तन के समय तुम्हारे प्रसाद के रूप में मिले फूलों को घर-घर बाँट आई हूँ। मेरी भक्ति देखकर चक्रवर्ती हँसकर बोला—"पगली, तू किसकी भक्ति कर रही है? दुनिया मुझे बुरा कहेगी! हाँ जी, सुना है, तुम्हें सब लोग गाली देते हैं?"

एक क्षण के लिए मेरा मन संकुचित हो गया। स्याही के छींटे इतनी दूर तक फैलते हैं!

वैष्णवी बोली, "बेनी ने समझा था कि मेरी भक्ति वह एक फूँक में बुझा देगा। किन्तु यह तो तेल की बत्ती नहीं है, यह आग है आग। अच्छा, मेरे गौर, वे तुम्हें गाली क्यों देते हैं भला!"

"मेरा पावना है, इसीलिए। खूब, संभव मैंने एक दिन चोरी-चोरी उनका मन चुराना चाहा था।"

"आदमी के मन में कितना जहर होता है यह तुमने देखा न? लोभ अधिक नहीं टिक सकता।"

"मन में लोभ रहने से ही "मार" के मुख में पड़ना पड़ता है। फिर तो अपने को मारने का ज़हर मन स्वयं तैयार करता है। इसीलिए मेरे बोझा मन को विषहीन करने के लिए मेरी इतनी कड़ी झाड़-फूँक कर रहे हैं!"

"दयाल ठाकुर मारते-मारते 'मार' को खदेड़ते हैं। अन्त तक जो मार खा सकता है, वही बचता है।"

उस दिन सायंकाल अँधेरे में छत पर संध्या-तारा उदय होकर फिर अस्त भी हो गया—वैष्णवी ने अपने जीवन की कहानी मुझे सुनायी—

"मेरे पति बहुत सीधे आदमी थे। कुछ लोग समझते थे कि उनमें समझने की शक्ति कम है। लेकिन मैं जानती हूँ, जो लोग सहज करके समझना जानते हैं; सब मिलाकर वही ठीक समझते हैं।

"मैंने यह भी देखा है कि अपनी खेती-बारी, ज़मीन-जायदाद के मामले में वे कभी ठगे नहीं जाते थे। घर और बाहर उनका काम-काज सलीके से होता था। धान, चावल, वगैरह का वे जो थोड़ा-बहुत रोज-गार करते थे उसमें कभी नुक़सान नहीं उठाना पड़ा, क्योंकि उनका लोभ थोड़ा होता था। ज़रूरत के मुताबिक वे हिसाब से चलते थे, इससे अधिक वे समझते भी नहीं थे और उसमें हाथ भी नहीं लगाते थे। मेरे विवाह के पहले ही मेरे श्वसुर का स्वर्गवास हो गया और मेरे विवाह के थोड़े दिन बाद सास भी चल बसीं। संसार में हम दोनों के सिर पर और कोई नहीं था। मेरे पति अपने सिर पर किसी ऊपरवाले को बैठाये बिना नहीं रह सकते थे। यहाँ तक कि, कहते लाज लगती है, मुझसे वे भक्ति भी करते थे। तो भी मेरा विश्वास है कि वे मुझसे अधिक समझते थे।

"उनके एक गुरुजी थे, उन्हीं की वे सबसे अधिक भक्ति किया करते

थे, सिर्फ भक्ति नहीं, प्रेम करते थे—ऐसा प्रेम कम देखने को मिलता है। गुरूजी उम्र में उनसे कुछ कम थे। क्या ही सुन्दर उनका रूप था।"

यह कहते-कहते वैष्णवी क्षण भर रुक गई। अपनी दूरगामी आँखों को जैसे बहुत दूर भेजकर वह कुछ गुनगुनाने लगी और फिर बोली—

"गुरू जी के साथ वे बचपन में खेले थे, और तभी से उन्होंने उन्हें अपना मन दे रखा था। उस समय गुरूजी मेरे पति को मूर्ख ही समझते थे, इसीलिए उन्हें तंग भी बहुत करते थे। दूसरे, मित्रों के साथ उनका मज़ाक बनाकर नाको दम कर देते थे।

"जब मैं व्याह के बाद ससुराल आई तो गुरूजी को मैंने वहाँ नहीं पाया। उस समय वे पढ़ने के लिये काशी चले गये थे। मेरे पति ही उनके खर्च की व्यवस्था कर देते थे। जब गुरुजी घर लौटे तब, मैं समझती हूँ, मेरी उम्र अट्ठारह की रही होगी।

"पन्द्रह वर्ष की उम्र में मेरे एक लड़का हुआ था। उम्र कच्ची थी, इसीलिए मैंने लड़के का जतन करना सीखा नहीं था, पड़ोस की सखी-सहेलियों के साथ मिलने को ही मेरा मन भागता रहा। लड़के के लिए घर में बंधे रहना पड़ता, इसलिए कभी-कभी उस पर भी मुझे गुस्सा आता था।

"हाय रे! लड़का जब आ चुका था, माँ तब भी पीछे छूट गई थी, ऐसी विपदा और क्या हो सकती है? मेरा गोपाल आया। आकर देखा कि उसके लिए माखन तब भी तैयार नहीं हुआ था, इसीलिए वह रूठकर चला गया—मैं आज भी मैदान में घाट-घाट में उसी को खोजती फिरती हूँ।......

"लड़का पिता की आँखों की पुतली था। मैं उसका जतन नहीं करती थी, इसलिए उसके पिता को कष्ट होता था। किन्तु उनका हृदय गूँगा था—आज तक उसके दुःख की बात किसी से कह नहीं सके।

"बच्चे का जतन वे स्त्रियों की भाँति करते थे। रात को जब वह रोता तो मेरी कच्ची उम्र की नींद वे तुड़वाना नहीं चाहते थे। स्वयं रात को

उठते, दूध गरम करते, उसे पिलाते, फिर थपथपाकर सुला देते, मुझे पता नहीं चलता। उनका सारा काम इसी तरह चुपचाप होता था। पूजा के दिनों में जमींदार के घर रामलीला या नाटक होता तो कहते, "रात को मैं जग नहीं सकता, तुम्हीं जाओ। मैं यहीं रहता हूँ।" वे अगर लड़के को न लेते तो मेरा जाना नहीं हो पाता, इसीलिए यह उनका बहाना हुआ करता था।

"आश्चर्य की बात तो यह है कि इतने पर भी लड़का मुझे ही सबसे अधिक प्यार करता था। मानों वह समझता था कि मौका पाते ही मैं उसे फेंककर चल दूँगी, इसीलिए जब वह मेरे पास होता तब भी डरता रहता था। उसने मुझे थोड़ा ही पाया था, इसीलिए उसकी पाने की आकांक्षा मिटना ही नहीं चाहती थी। मैं जब नहाने के लिए घाट पर जाती तो साथ जाने के लिए मुझे रोज़ तंग करता। घाट ही सहेलियों से मिलने की मेरी जगह थी। वहाँ लड़के को लेकर उसकी देखभाल करते रहना मुझे अच्छा नहीं लगता था। इसीलिए जहाँ तक मेरी चलती, मैं उसे ले नहीं जाना चाहती थी।

"उस दिन सावन का महीना था। घने काले मेघों के झुंड के झुंड दोपहर की वेला को हाँक चुके थे। मैं नहाने जा रही थी, लड़के ने रोना शुरू किया। निस्तारिणी हमारे यहाँ रसोई का काम करती थी। मैं उसे कहती गयी कि ज़रा बच्चे को देखना तो बिटिया, मैं एक डुबकी लगा के अभी आयी!

"उस समय घाट पर और कोई नहीं था। सहेलियों के आने के इन्तजार में मैं तैरने लगी।

तालाब पुराने ज़माने का था, न जाने किस रानी ने इसे कब खुदवाया था, नाम था "रानी-सागर" तैरकर इस तालाब को पार कर जाना सब लड़कियों में अकेली मैं ही कर सकती थी। वर्षा के कारण उस समय तालाब लबालब भरा था। जब आधा तालाब पार कर गई तो अचानक पीछे से आवाज आयी—'माँ!' मैंने घूमकर देखा, बच्चा घाट

की सीढ़ियों पर उतरते-उतरते मुझे पुकार रहा है। चिल्लाकर बोली, 'आगे मत बढ़, मैं अभी आयी!'

मैं ज्यों-ज्यों मना करती गई त्यों-त्यों वह हँसता-हँसता और भी नीचे उतर गया। मारे डर के मेरे हाथ-पैर सुन्न हो गये, जितना ही कोशिश करती थी, घाट तक आना मुश्किल होता जा रहा था। मैंने डरकर आँखें बन्द कर लीं, जाने क्या देखना पड़े! इसी बीच उस घाट पर मेरे बच्चे की हँसी हमेशा के लिये बंद हो गई! पार पहुँचकर मैंने माँ की गोद के लिए कंगाल बने उस बालक को पानी के नीचे से उठाकर गोद में लिया, किन्तु उसने 'माँ' फिर नहीं पुकारा।

"मैंने अपने गोपाल को इतने दिनों रुलाया था, उस सारे अनादर को आज वह मेरी ही ओर लौटकर मुझे मारने लगा। जब वह जीता था तब मैं बराबर उसे छोड़कर चली जाती थी, इसीलिए आज वह दिन-रात मेरे मन को कसकर पकड़े हुए है!

"मेरे पति के हृदय में कितनी चोट लगी यह उनके अन्तर्यामी ही जानते हैं। मुझे यदि वे गाली देते तो अच्छा होता। किन्तु वे केवल सहना ही जानते थे, कहना बिल्कुल नहीं।

"ऐसी ही दशा में, मैं जब एक प्रकार से पागल हो गई थी, गुरुजी देश लौटे। मेरे पति जब बचपन में इन गुरुजी के साथ खेलते-कूदते थे तब और तरह का भाव था। अब दीर्घकाल के विच्छेद के बाद वह भाव बदल गया। उनके बाल्यकाल के मित्र विद्या-अर्जन करके देश लौटे थे, उनके ऊपर मेरे पति की भक्ति एकदम परिपूर्ण हो गई थी। आज कौन कह सकता था कि वे खेल के साथी हैं, इनके सामने वे मानों मुँह ही नहीं खोल सकते थे। पति ने मुझे समझा-बुझाकर शांत करने के लिए गुरुजी से अनुरोध किया। गुरुजी ने मुझे शास्त्र सुनाना शुरू किया। ऐसा तो नहीं जान पड़ता कि शास्त्र की बातों से कुछ विशेष फल हुआ। मेरे निकट उन वाक्यों का जो कुछ मूल्य था, वह सिर्फ इसलिए कि वे उनके मुख से निकले थे। मनुष्य के कंठ से ही भगवान् अपना अमृत मनुष्य को

पिलाया करते हैं। फिर मनुष्य के कंठ से ही वे भी अमृत पान किया करते हैं।

"गुरू के प्रति मेरे पति की अजस्र भक्ति ने हमारे संसार को मधुपूर्ण कर रखा था। हमारा आहार-विहार धन-जन सब कुछ उसी भक्ति से परिपूर्ण था, कहीं भी कुछ खालीपन नहीं। मैं उसी रस में समस्त मन लेकर डूबी रहती थी। इसी प्रकार मुझे शान्ति मिली। इसीलिए देवता को मैंने गुरू के रूप में ही देखा था।

"प्रतिदिन सवेरे सिर्फ यही बात याद आती कि वे आकर भोजन करेंगे और हम उनका प्रसाद पायेंगे। मैं इसी तैयारी में लग जाती। उनके लिये तरकारी काटती, तो अँगुलियों में जैसे आनन्दध्वनि बज उठती। ब्राह्मण न होने के कारण मैं उन्हें अपने हाथों भोजन बनाकर खिला नहीं पाती थी, इसीलिये मेरी पूरी भूख नहीं मिटती थी।

"वे ज्ञान के समुद्र थे, उस ओर उन्हें कोई अभाव नहीं था। मैं एक मामूली स्त्री हूँ, उन्हें ज़रा खिला-पिलाकर प्रसन्न कर सकती थी, उसमें भी इतनी बाधाएँ थीं।

"मेरी गुरू सेवा देखकर पति का मन खिल उठता और मेरे ऊपर उनकी भक्ति और भी बढ़ जाती। वे जब देखते कि मुझे शास्त्र सुनाने की ओर गुरू का विशेष उत्साह है, तो सोचते कि अपनी निर्बुद्धिता के लिए उन्होंने गुरू से बराबर अश्रद्धा पाई है, फिर भी यह उनका सौभाग्य है कि उनकी स्त्री ने अपनी बुद्धि के बल पर गुरू को प्रसन्न कर लिया है।

"इसी तरह चार-पाँच वर्ष किस प्रकार कट गये कुछ समझ में नहीं आया।

"सारा जीवन इसी तरह कट सकता था। किन्तु गोपन में कहीं चोरी चल रही थी। उसे मैं पहले पकड़ नहीं सकी, वह अन्तर्यामी के हाथों पकड़ी गयी। उसके बाद एक दिन एक ही मुहूर्त में सब कुछ उलट-पुलट गया।

"उस दिन फागुन का प्रातःकाल था। घाट जाने के छायादार मार्ग

पर मैं नहाकर लौट रही थी, गीला कपड़ा बदन से चिपका हुआ था। रास्ते के मोड़ पर एक आम का पेड़ था। वहीं गुरुजी से मुलाकात हुई। वे कंधे पर एक गमछा लिये कोई संस्कृत का श्लोक पढ़ते हुए स्नान करने घाट की ओर जा रहे थे।

"गीले कपड़ों में थी, उन्हें देखकर लजा गयी और एक तरफ मुड़कर निकल जाना चाहती थी कि इतने में उन्होंने मेरा नाम लेकर पुकारा मैं छुईमुई-सी होकर सिर झुकाकर एक ओर खड़ी हो गई। वे मेरे चेहरे पर दृष्टि गड़ाते हुए बोले—"तुम बड़ी सुन्दर हो!"

"पक्षी वृक्षों पर कूजन कर रहे थे, रास्ते के किनारे-किनारे गुच्छ के गुच्छ माण्डीरक पुष्प खिले हुए थे, आम की शाखा-शाखा पर मंजरी फूटी हुई थी। जान पड़ा, सारा आकाश-पाताल पागल होकर अस्त-व्यस्त हो गया है। कैसे मैं घर में आई, कुछ पता नहीं। एकदम उसी गीले वस्त्र समेत ठाकुर-घर में चली गई। वहाँ अपने ठाकुर को न देख सकी—सिर्फ घाट के रास्ते की छाया पर प्रकाश की वह झिलमिलाहट आँखों पर नाचने लगी।

"उस दिन गुरुजी जब भोजन पर बैठे तो पूछा—"आनन्दी नहीं है?"

"मेरे पति मुझे खोजते फिरे, कहीं पा न सके।

"सारा दिन कैसे और कहाँ कटा कुछ कह नहीं सकती। सारे दिन सोचती रही कि रात को पति के साथ भेंट होगी। उस समय सब कुछ चुप रहेगा और अंधकार रहेगा। उसी समय मेरे पति का मन मानों खिल उठता था। उसी अंधकार में उनके मुँह से एकाध बात अचानक सुन लेती तो समझ जाती थी कि यह सीधा आदमी जो कुछ समझता है वह कितने सहज ढंग से समझता है। गृहस्थी का काम संभाल कर आने में मुझे देर हुआ करती। वे मेरा इन्तजार करते। अकसर उसी समय हम दोनों में गुरुजी की कुछ-न-कुछ चर्चा हो जाती। उस दिन बहुत रात बीत गई, लगभग तीन पहर बीत गये थे। घर में आकर देखती हूँ कि मेरे पतिदेव भी खाट पर नहीं गये। नीचे ही पड़े-पड़े सो गये थे। बड़ी सावधानी से

कुछ भी आवाज़ किये बिना मैं उनके पैरों के पास सो गई। नींद में एक बार उन्होंने पैर फैलाया, वह मेरी छाती में आ लगा। इसी को मैंने उनका अन्तिम दान समझकर ग्रहण किया है। दूसरे दिन सवेरे जब उनकी नींद खुली, तो मैं उठकर बैठ गई थी। खिड़की के बाहर कटहल के पेड़ पर अंधकार की एक तरफ ज़रा-सी लालिमा दिखाई दी—उस समय कौए नहीं बोले थे।

मैंने सिर झुकाकर पति के चरणों में प्रणाम किया। वे फौरन उठकर बैठ गये। मेरे मुँह की ओर अवाक् देखते रह गये।

मैंने कहा—"अब मैं संसार छोड़ना चाहती हूँ।" जान पड़ता है, पति ने सोचा कि वे सपना देख रहे हैं। वे कुछ भी नहीं बोल सके।

मैंने कहा—मेरे सिर की कसम, तुम दूसरा विवाह कर लेना। मैं विदा होती हूँ।

पति बोले—तुम यह सब क्या कहती हो ? तुम्हें वैराग्य लेने को किसने कहा ?

मैंने कहा—गुरूजी ने।

पति हतबुद्धि हो गये, बोले—गुरु जी ने यह बात कब कही ?

मैंने कहा—आज सवेरे मैं जब स्नान करके लौट रही थी तो उनके साथ भेंट हुई। उसी समय कहा था।

इस बार स्वामी का गला काँप गया। वे बोले—ऐसी आज्ञा उन्होंने क्यों दी ?

मैंने उत्तर दिया—मैं नहीं जानती। उन्हीं से पूछना, बता सकेंगे तो बता देंगे।

पति ने कहा—संसार में रहकर भी तो संसार-त्याग किया जा सकता है। मैं यही बात गुरू को समझाकर कहूँगा।

मैंने कहा—शायद गुरू समझ सकेंगे, किन्तु मेरा मन नहीं समझेगा आज से गृहस्थी से मेरा संबंध टूट गया।

पति चुप बैठे रहे। आकाश जब साफ़ हो गया तो वे बोले—चलो न, दोनों एक बार साथ ही उनके पास चलें।

मैंने हाथ जोड़कर कहा—मैं अब उनके सामने नहीं जाऊँगी।

उन्होंने मेरे चेहरे की ओर देखा, मैंने सिर नीचा कर लिया। वे और कुछ न बोले।

मैं जानती हूँ, उन्होंने एक प्रकार से मेरा मन देख लिया।

इस संसार में दो आदमियों ने मुझे सबसे अधिक प्यार किया था, मेरे लड़के और मेरे पति ने। वह प्रेम मेरा नारायण था। इसीलिए वह झूठ को बर्दाश्त न कर सका। एक मुझे छोड़कर चलता बना और दूसरे को मैं छोड़ आई। अब सत्य को खोज रही हूँ। अब धोखा नहीं खाऊँगी।

हालदार परिवार

इस परिवार में किसी प्रकार की गड़बड़ी होने का कोई उचित कारण नहीं था। आर्थिक अवस्था भी अच्छी थी। परिवार के सदस्यों में कोई ऐसा बुरा आदमी नहीं था। लेकिन फिर भी गड़बड़ी होकर ही रही।

बात यह है कि समुचित कारण होने पर ही अगर मनुष्य का सब कुछ घटित हुआ करता, तो यह संसार हिसाब के खाते की तरह जड़ हो उठता—सिर्फ तनिक-सा सावधान होकर चलने से ही कहीं कोई भूल की गुंजायश नहीं होती, और यदि भूल हो भी जाती तो उसे रबड़ से मिटाकर सुधार देने से काम चल जाता!

किन्तु जो मनुष्य के भाग्यदेवता हैं, उनमें भरपूर रसिकता है। गणित में उनका दखल है या नहीं, पता नहीं, लेकिन उससे उनका अनुराग नहीं है यह स्पष्ट है। मानव-जीवन की जोड़-बाकी का सही-सही जवाब निकाल लाने की तरफ कभी उनका ध्यान ही नहीं जाता। इसीलिए अपनी व्यवस्था में उन्होंने एक और पदार्थ का भी समावेश किया है, और वह है असं-गति। जो कुछ अनायास ही घटित हो सकता था, उसे यह असंगति बीच में आकर अचानक अस्तव्यस्त कर डालती है। इसी से जगत् में नाट-कीयता का समावेश होता है। संसार को प्लावित करते हुए हास्य और रुदन का तूफान उठ खड़ा होता है।

यहाँ भी ऐसा ही हुआ, जैसे कमल-वन में कोई मतवाला हाथी आ पहुँचा हो। पंक के साथ पंकज की एक विपरीत प्रकार की घनिष्ठता दिखाई दी। और, अगर ऐसा न होता, तो शायद इस कहानी का अस्तित्व ही संभव न हो पाता।

यहाँ जिस परिवार की बात कही जा रही है, उसमें सबसे अधिक योग्य व्यक्ति बनवारीलाल है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। वह स्वयं भी इस

बात को अच्छी तरह जानता है। और इसी जानकारी ने उसे इस प्रकार बेचैन भी बना रखा है। उसकी योग्यता इंजिन की भाप की तरह भीतर से उसे धकेला करती है। सामने की तरफ अगर ठीक रास्ता मिल जाय तो ठीक है, और अगर न मिले तो फिर लगातार धक्का-मुक्की चलती रहती है।

उसके पिता मनोहरलाल का रहन-सहन पुराने ढंग के रईसों जैसा था। वे समाज के शीर्ष का सहारा लेकर सिरताज बने रहना चाहते थे। यही कारण था कि उस समाज के हाथ-पैर से वे अपना कोई संपर्क नहीं रखते।

जो साधारण आदमी होते हैं वे काम-काज करते हैं, चलते-फिरते रहते हैं, लेकिन बनवारीलाल के पिता काम-काज और हिलने-डुलने से बचने का विपुल आयोजन किये रहते थे।

प्रायः देखा जाता है कि इस प्रकार के लोग अनायास ही अपने आस-पास दो-एक ऐसे व्यक्तियों को चुम्बक की तरह खींच लेते हैं, जो हर तरह से सख्त और खरे हुआ करते हैं। इसका कारण और कुछ नहीं, सिर्फ यही होता है कि दुनिया में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनका धर्म केवल सेवा करना होता है। ऐसे लोग अपनी प्रकृति की इस विशेषता को चरितार्थ करने के लिए ऐसे अक्षम आदमी की खोज में रहते हैं जो अपना पूरा भार उन पर छोड़ दे। ऐसे सहज सेवक अपने निजी काम-काज को संपन्न करके कोई सुख नहीं अनुभव करते, लेकिन किसी दूसरे को हर तरह से निश्चिन्त रखने में, उसे पूरा-पूरा आराम देने में, सब प्रकार के संकटों से उसे सुरक्षित रखने और लोक-समाज में उसकी मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने में वे परम उत्साह से लगे रहते हैं। उन्हें एक प्रकार की पुरुष-माता कहा जा सकता है, और वह भी स्वयं अपने बच्चों की नहीं—परायी संतान की!

मनोहरलाल का रामचरण नामक जो नौकर है, उसके जीवन का केवल एक ही उद्देश्य है—मालिक की देह-रक्षा करना। यदि केवल उसी

के साँस लेने से बाबू के साँस लेने की जरूरत न रहे तो वह लुहार की धौंकनी की तरह दिन-रात हाँफते रहने के लिए राजी हो जायगा। बाहरी लोग अक्सर सोचा करते थे कि मनोहरलाल शायद अपने सेवक से जरूरत से ज्यादा काम लेकर उसपर बड़ा अन्याय करते हैं। तनिक से काम के लिये भी पुकार मचाकर रामचरण को नाहक दौड़ाना, सचमुच बड़ा असंगत दिखाई पड़ता। लेकिन इन असंख्य छोटे-मोटे अनावश्यक कामों में अपने को अत्यन्त आवश्यक साबित करने में ही रामचरण को आनन्द मिलता।

जैसा रामचरण था, वैसा ही उनका एक और भी अनुचर था। सांसारिक सम्पत्ति की रक्षा का भार इसी पर था। मालिक के प्रसाद से परिपुष्ट रामचरण खासा गोलमटोल और चिकना-चुपड़ा था। लेकिन नीलकंठ के हड्डियों के ढाँचे पर जैसे झिल्ली ही नहीं थी। मालिक के ऐश्वर्य-भंडार के द्वार पर वह मानो मूर्तिमान दुर्भिक्ष की तरह पहरा दिया करता। सम्पत्ति मनोहरलाल की थी, लेकिन उसकी सारी ममता नीलकंठ को थी।

नीलकंठ के साथ बनवारीलाल की बहुत दिनों से खटपट चल रही थी। मान लीजिये, पिता से बनवारी ने बहू के लिए एक नया गहना बनवा लेने की इजाजत प्राप्त कर ली। अब वह चाहता है कि इसके लिए आवश्यक रुपये प्राप्त करके अपनी पसंद के मुताबिक गहना तैयार करा ले। लेकिन निश्चित समझिये कि इसकी गुंजाइश नहीं हो सकती। सारा हिसाब-किताब नीलकंठ के हाथों से गुजरना जरूरी है। फल यह होता है कि गहना बन तो जरूर जाता है, लेकिन किसी की पसंद के मुताबिक नहीं। उल्टे बनवारी के मन में यह विश्वास पक्का बैठ जाता है कि सुनार के साथ जरूर ही नीलकंठ की साठगाँठ चलती है। कड़े मिज़ाज-वालों को शत्रुओं का कभी टोटा नहीं पड़ता। बनवारी बराबर यह सुनता आ रहा है कि नीलकंठ जितने के लिए दूसरों को वंचित किया करता है, वह सब उसके अपने घर में संचित होता जाता है।

फिर भी जिस कारण दोनों ओर से यह मन-मुटाव घना होता आ रहा

है, वह सिर्फ दस-पाँच रुपये के कारण ही है। नीलकंठ में सांसारिक बुद्धिमानी का कोई अभाव नहीं। यह समझना उसके लिए मुश्किल नहीं कि बनवारी से बिना पटाये किसी भी दिन विपत्ति घटित हो सकती है, लेकिन मालिक के धन के मामले में नीलकंठ में एक तरह की कंजूसी का हठ या रोग है। वह जिस खर्च को गलत समझ लेता है, उसे फिर मालिक का हुक्म पाने पर भी किसी तरह मंजूर नहीं कर सकता।

इधर बनवारी को अक्सर ही ऐसा खर्च करने की जरूरत आ पड़ती। पुरुषों के बहुत से ऐसे मामलों की जड़ में जो कारण मौजूद रहा करता है, वही कारण इस जगह भी प्रबल रूप से वर्तमान था। बनवारी की स्त्री किरणलेखा की उम्र चाहे जो रही हो, उसका चेहरा देखने से तो यही जान पड़ता जैसे अभी वह लड़की ही है। बनवारी उसे लाड़ से "अणु" कहकर पुकारा करता। जब यह नाम भी काफी नहीं मालूम पड़ता तो "वरमणु" कहकर बुलाता। रसायनशास्त्र में जिनका दखल है, वे सहज ही इस बात की पुष्टि करेंगे कि विश्व के संगठन में अणुपरमाणुओं का महत्व कम नहीं है।

किरण ने पति से कभी किसी चीज के लिए जिद नहीं की। एक प्रकार का उदासीन भाव उसमें सदा बना रहता, जैसे उसे किसी चीज की खास जरूरत नहीं है। घर में उसकी बहुत-सी ननदें हैं। उन्हीं से उसका मन भरा रहता। नव-यौवन के नव-जाग्रत प्रेम में जो एक प्रकार की मौन तपस्या-सी हुआ करती है, उसकी आवश्यकता उसे कभी अनुभव नहीं होती। इसीलिए बनवारी के साथ उसके व्यवहार में आग्रह का आवेश नहीं नजर आता। बनवारी से उसे जब जो मिल जाता, इसी को वह शांत भाव से स्वीकार कर लेती—आगे बढ़कर कभी कुछ नहीं माँगती। इसलिए बनवारी को स्वयं ही सोच-विचार कर यह स्थिर करना पड़ता कि उसके क्या करने से स्त्री प्रसन्न रह सकेगी। जहाँ स्त्री अपने मुँह से फरमाइश करती है, वहाँ बहस-मुबाहसा करके उसकी माँग को थोड़ा-बहुत घटाया भी जा सकता है, लेकिन जहाँ दूसरा पक्ष बिल्कुल चुप हो जाय

वहाँ केवल अपने ही साथ मोल-तोल करना संभव नहीं होता। ऐसी अवस्था में याचित दान से अयाचित दान ही कहीं अधिक खर्चीला हो जाता है।

और फिर पति के प्यार का उपहार पाकर किरण कितनी आनंदित हुई, इसे भी अच्छी तरह समझने का कोई साधन नहीं रहता। इस संबन्ध में कुछ पूछने पर वह बहुत उत्साह से कहती, "बहुत बढ़िया है!" लेकिन बनवारी के मन का खटका कभी दूर नहीं होता। प्रति पल उसे ऐसा लगता जैसे उसका उपहार पसन्द नहीं किया गया। किरण पति की कुछ भर्त्सना करके कहती, "तुम्हारा स्वभाव कुछ ऐसा ही है! भला क्यों तुम्हारे जी में इस तरह की खुटखुट बनी रहती है? क्यों, यह तो बहुत बढ़िया है!"

बनवारी ने भी पाठ्य पुस्तकों में पढ़ा है कि संतोष मनुष्य का महान् गुण है। लेकिन अपनी स्त्री के स्वभाव में यही महान् गुण उसे पीड़ा पहुँचाया करता। उसकी स्त्री ने उसे केवल संतुष्ट ही नहीं किया, अभिभूत कर दिया है। अतएव वह भी स्त्री को अभिभूत करना चाहता है। लेकिन उसकी स्त्री को इसके लिए कोई विशेष चेष्टा नहीं करनी पड़ती! उसके यौवन का लावण्य अपने आप ही छलक उठता। सेवा की सुघड़ निपुणता अपने आप ही प्रकाशित होती रहती। परन्तु पुरुष को ऐसा सहज सुयोग कहाँ मिलता है। पौरुष का परिचय देते हुए उसे तो कुछ न कुछ कर ही डालना पड़ता है। उसमें जो एक विशेष शक्ति होती है, उसका प्रमाण न दे पाने पर पुरुष का प्रेम बहुत म्लान हो जाता है। और यदि दूसरा कुछ अपने पास न भी हो तो अपनी मन-संपद छटा का प्रसार कर पाने पर ही पुरुष का मन कुछ सान्त्वना पाता है। बनवारी के इसी प्रेम के आयोजन में नीलकंठ बार-बार व्याघात डालता है। बनवारी घर का "बड़ा बाबू" है फिर भी उसकी हुकूमत किसी पर नहीं है। नौकर भी मालिक से शह पाकर उल्टे उसी पर आधिपत्य गाँठे रहते हैं। फलस्वरूप जो असुविधा और अपमान उसे सहना पड़ता है, उसकी टीस उसे

और किसी दूसरे कारण से इतनी अधिक नहीं होती, जितनी कि पंचशर के तरकस में मनचाहा शर जुटाने के अवसर पर अपने को वह पूरी तरह अक्षम पाता है।

एक दिन इस धन-सम्पत्ति पर आखिर उसी का तो अधिकार होगा। लेकिन क्या यौवन भी हमेशा बना रहेगा? वसंत के रंगीन प्याले में उस समय यह सुधारस आज की तरह अनायास छलक नहीं सकेगा! तब रुपया-पैसा दुनियादार आदमी की दौलत की तरह जमा होने लगेगा। किन्तु रुपये की जरूरत तो तब नहीं, आज है, जब कि उसे खर्च कर डालने की इच्छा और शक्ति बनी हुई है।

बनवारी के खास शौक तीन हैं—कुश्ती, शिकार और संस्कृत काव्य-चर्चा। उसकी कापी में संस्कृत की एक से एक बढ़िया कविताओं का ढेर लगा हुआ है। बदली के दिन, चाँदनी रातों में या दक्खिन पवन के आरोह-अवरोह की धारा में यह काव्य-संचय बहुत काम आता है। खैरियत यही है कि कविताओं के इस अलंकार-बाहुल्य को नीलकंठ किसी भी तरह कम करने के लिए विवश नहीं है। अतिशयोक्ति चाहे कितनी अतिशय क्यों न हो, किसी खाता-बही के हिसाब के सामने उसकी जवाबदेही नहीं करनी पड़ती। किरण के कर्णफूल के सोने की मात्रा में थोड़ी-बहुत कंजूसी हो भी सकती है, लेकिन कर्णमूल के बहुत निकट गूँजनेवाले मन्दाक्रान्ता छंद की एक मात्रा भी कम नहीं की जाती।

बनवारी ने किसी बांके पहलवान जैसा भरापूरा चेहरा पाया है। जब वह क्रोध करता है तो लोग डर के मारे सिट्टी भूल जाते हैं। लेकिन इस बाँके जवान का अंतरंग बहुत सुकुमार है। छोटा भाई वंशीलाल जब छोटा था, तब बनवारी ने मातृस्नेह की करुण ममता के साथ उसका लालन-पालन किया था। वस्तुतः बनवारी के हृदय में लालन-पालन की एक भूख-जैसी सदा जागती रहती है। अपनी पत्नी के प्रति भी उसके प्रेम में यही चीज छिपी है। किरणलेखा तरुछाया के बीच पथ-भूली रश्मिरेखा के समान तनिक-सी है और अपनी इसी स्वल्पता के कारण

पति के जी में उसने अपने लिए एक प्रकार की करुण-ममता, एक दर्द जगा रखा है। इस लड़की को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देखने का बनवारी को बहुत आग्रह है। वह आनन्दभोग का आनन्द नहीं, निपुण शिल्पी की रचना आनन्द है। वह एक को अनेक करने का स्रष्टा का आनन्द है, किरण की "एक" लेखा को नाना वर्ण और नाना आवरणों के भीतर से "बहु" करके उपलब्ध करने का आनन्द है!

लेकिन केवल संस्कृत के श्लोकों को बार-बार दोहराने से ही तो बनवारी का यह शौक पूरा नहीं हो सकता। उसके अपने भीतर जो पुरुषोचित प्रभुशक्ति है, बनवारी न तो उसे ही प्रकाशित कर पाता और न प्रेम सामग्री को ही नाना उपकरणों द्वारा ऐश्वर्यवान कर पाने की अपनी लालसा को संतोष दे पाता।

इसी तरह यह धनी-संतान अपनी मान-प्रतिष्ठा, सुन्दर स्त्री, भरी जवानी, अर्थात् साधारण आदमी जिसके लिए लालायित रहते हैं वह सब कुछ लेकर भी दुनिया में एक मूर्तिमान उत्पात-जैसा बन बैठा।

सुखदा मधु केवट की स्त्री का नाम था। वह मनोहरलाल की परजा है। एक दिन अन्तःपुर में आकर किरण लेखा के पाँव पकड़कर उसने रोना शुरू कर दिया। मामला यों था—कुछ बरस पहले नदी में महाजाल डालने के समय जरूरत के कारण हमेशा की तरह सब माझियों ने मिलकर, दस्ती-चिट्ठी लिखकर मनोहरलाल की गद्दी से एक हजार रुपये उधार लिये थे। अच्छी तरह मछलियाँ फँसने पर मूल और ब्याज दोनों बेबाक कर देना मुश्किल नहीं होता, इसीलिए ऊँची ब्याज-दर पर रुपया लेने में ये लोग चिन्ता नहीं करते। उस साल मछलियाँ कुछ खास नहीं फँसीं और संयोग कुछ ऐसा हुआ कि लगातार तीन वर्ष तक नदी की झील में इतनी कम मछलियाँ आईं कि माझियों की लागत तो पूरी निकली ही नहीं, बल्कि ऊपर से वे लोग कर्ज के जाल में बुरी तरह फँस गये। जो केवट दूसरे इलाके के थे वे तो चंपत हो गये, परन्तु मधु [illegible] दार के गाँव का ही परजा ठहरा, इसलिए भागने का रास्ता

और समूचे कर्ज का देना उसी अकेले पर आ पड़ा। इस सर्वनाश से बचने की प्रार्थना लेकर वह किरण की शरण में आया। किरण की सास के पास जाना बेकार है उसे सभी जानते हैं, क्योंकि नीलकंठ की व्यवस्था में कोई जरा-सी भी मीनमेख कर सके—यह बात उनके ध्यान में नहीं आती। मधु जानता है कि नीलकंठ पर बनवारी के मन में काफी क्रोध संचित है। इसीलिए उसने अपनी स्त्री को किरण के पास ही भेजा।

बनवारी कोप चाहे जितना करे और चाहे जितनी डींग हाँके, किरण इसे बहुत अच्छी तरह जानती है कि नीलकंठ के काम में हस्तक्षेप करने का अधिकार उसे प्राप्त नहीं है। इसी से किरण ने सुखदा को बार-बार समझाने की चेष्टा की, "बिटिया! भला कहो, क्या किया जाय! जानती तो हो, इन सब मामलों में हम लोगों का कोई हाथ नहीं है। बड़े सरकार तो हैं ही। मधु से कहो, उन्हीं की शरण में जाये।"

लेकिन वह कोशिश तो पहले ही की जा चुकी थी। मनोहरलाल के पास किसी प्रकार की शिकायत ले जाने पर वे उसके फैसले का भार नीलकंठ पर ही छोड़ देते। इससे प्रार्थी की आफत और भी बढ़ जाती। और यदि कहीं कोई उनके पास दुबारा अपील करने जाता तो वे गुस्से से आगबबूला हो उठते। अगर सांसारिक-कार्यों की परेशानी ही उन्हें भोगनी पड़ी, तो सांसारिक सुख भोग में उन्होंने आनन्द ही क्या पाया?

जब सुखदा किरण के सामने रोना-धोना कर रही थी, उसी समय बगल के कमरे में बनवारी बैठा अपनी बन्दूक की नली को तेल दे रहा था। ये बातें उसके कानों में पड़ीं। किरण जो बार-बार समझा रही थी कि हम लोग इसका कोई प्रतिकार नहीं कर सकते, यह बात बनवारी की छाती में काँटे की तरह चुभ गई।

उस रोज दिन भर की ऊमस के बाद शाम के समय की तेज हवा दीवाने की तरह नशे में चूर हो उठी। कोयल तो जैसे बेचैन ही हो रही थी। एक ही सुर में बार-बार कूक-कूककर वह जाने किस उदासीनता को विचलित करने की चेष्टा कर रही थी। फूलों की सुगन्ध का मानो आज

मेला लगा हुआ था। खिड़की के पास ही अन्तःपुर के बगीचे से कुन्द-कुन्द के फूलों की सुगन्ध ने वसन्त के वातावरण में नशा घोल दिया था। किरण ने उस दिन बासंती रंग की साड़ी पहनी और जूड़े को बेले के फूलों की माला से घेर दिया। इस दम्पति के सदा के नियमानुसार उस दिन बनवारी के लिए भी फागुन के अनुरूप बासंती रंग की चादर और बेले की माला उपस्थित थी। रात का पहला पहर बीत गया, फिर भी बनवारी के आने के कोई लक्षण नहीं दीखे। यौवन का छलकता हुआ प्याला आज उसे नहीं भाया। प्रेम के बैकुण्ठलोक में इतनी बड़ी कुण्ठा लेकर वह प्रवेश करे भी तो कैसे ! मधुकेवट के दुःख को दूर करने की क्षमता उसमें नहीं है—वह क्षमता है नीलकंठ में !

पहले उसने नीलकंठ को अपनी बैठक में बुलवा भेजा, और कर्ज से दबे मधुकेवट का सर्वनाश करने से मना किया। नीलकंठ बोला, "यदि मधु को प्रश्रय किया गया तो इससे बहुत से रुपयों का नुकसान सहना होगा—फिर उसकी देखा-देखी सभी लोग रुपये चुकाने में आनाकानी करेंगे।"

इस तरह बनवारी जब तर्क में हार गया, तो उसे गाली देने लगा। बोला, "नीच जात कहीं के !" नीलकंठ ने कहा। "नीच-जात न होता तो बड़े लोगों की शरण में ही क्यों आता !' बनवारी बोला, "चोर !" उत्तर मिला, "सो तो सही ही है। भगवान् ने जिसे अपना कुछ नहीं दिया, वह पराये धन से ही तो प्राण बचाता है।" इस प्रकार बनवारी की सारी गालियाँ उसने चुपचाप सिर ले लीं और अन्त में कहा, "वकील साहब बाहर बैठे हैं, उनसे काम की बात निपटा आऊँ। अगर जरूरत पड़े तो फिर हाजिर हो जाऊँगा।"

बनवारी ने अपने छोटे भाई वंशी को अपनी तरफ मिलाकर उसी समय पिता के पास जाने का तय किया। उसे मालूम था कि अकेले जाने से काम नहीं बनेगा, क्योंकि इसी नीलकंठ के कारण इससे पहले भी उसकी पिता से खटपट हो चुकी है। पिता तो उसपर चिढ़े ही हैं। एक

दिन ऐसा भी था जब सब यही समझते थे कि मनोहरलाल अपने बड़े बेटे को ही सबसे अधिक चाहते हैं। लेकिन अब ऐसा मालूम पड़ता है कि बन्शी पर ही उनका स्नेह अधिक है। इसीसे बनवारी बन्शी को शिकायत के समय अपनी ओर मिला रखना चाहता था।

बन्शी बहुत अच्छा लड़का माना जाता है। इस परिवार में सिर्फ उसी ने दो-दो इम्तिहान पास किये हैं। इस बार वह कानून की परीक्षा देने की तैयारी कर रहा है। रात-दिन एक करके जिस पढ़ाई में वह लगा हुआ था, उसके अन्तर में भी कुछ जमा हो रहा है कि नहीं, यह तो अन्तर्यामी ही जानें लेकिन जहाँ तक शरीर का सवाल है, ख़र्च के सिवाय और कोई बात नजर नहीं आती।

आज इस फागुन की शाम को भी कमरे का दरवाजा बन्द है। ऋतु-परिवर्तन से वह बहुत डरता है। हवा के प्रति उसकी लेश-मात्र श्रद्धा नहीं। टेबुल पर मिट्टी के तेल का एक लैम्प जल रहा है। कुछ किताबें खाट के पास फर्श पर पड़ी हैं, कुछ मेज़ पर हैं। दीवार के छोटे आले में कुछ दवाइयाँ रखी हैं।

बनवारी के प्रस्ताव पर वह किसी प्रकार राजी नहीं हुआ। बनवारी गुस्से से गरजकर बोला, "तू नीलकंठ से डरता है!" वंशी इसका जवाब न दे चुपचाप बैठा रहा। सचमुच ही नीलकंठ को अनुकूल बनाये रखने की वह हमेशा कोशिश किया करता है। उसे प्रायः पूरे साल कलकत्ते के मकान में ही रहना पड़ता है। वहाँ उसे अपने निश्चित रुपयों से ज्यादा की जरूरत पड़ ही जाती है। इस नाते नीलकंठ को प्रसन्न रखने का उसे अभ्यास-सा हो गया है।

वंशी को भीरु, कापुरुष और नीलकंठ का "चरण-चारण-चक्रवर्ती" कहकर पेटभर गालियाँ देने के बाद बनवारी अकेला ही पिता के पास पहुँचा। मनोहरलाल अपने बगीचे में तालाब के किनारे अपनी अदालत में कलकत्ते के बैरिस्टर की जिरह के सामने पड़ोस के गाँव के जमींदार

अखिल मजूमदार की छीछालेदर किस तरह हुई, उसी का किस्सा बड़े मालिक को बड़े ढंग से सुना रहे थे।

अचानक बीच में आकर बनवारी से रसभंग कर दिया। भूमिका बाँधकर अपने विषय को धीरे-धीरे कहने लायक उस समय उसकी अवस्था नहीं थी। उसने तो आते ही कहना शुरू कर दिया कि नीलकंठ के द्वारा घर को बहुत हानि पहुँच रही है! वह चोर है, मालिक के रुपये दबाकर वह अपना पेट भर रहा है। इस बात का न तो कोई प्रमाण ही था और न यह सच ही थी। नीलकंठ ने तो उनकी पैतृक सम्पत्ति में वृद्धि ही की थी, और वह चोर बिल्कुल नहीं था। बनवारी समझता था कि अनवश नीलकंठ के सत्स्वभाव के प्रति अटल विश्वास रहने के कारण ही पिता आँख मूँदकर उस पर निर्भर किया करते हैं। किन्तु यह बनवारी का ही भ्रममात्र था। मनोहरलाल का यह पक्का विचार था कि मौका पाते ही नीलकंठ चोरी भी कर लिया करता है। लेकिन इस कारण उसके प्रति उनके मन में कोई शिकायत नहीं थी। क्योंकि दुनिया हमेशा से इसी प्रकार चलती आ रही है। नौकरों की चोरी के बचे-खुचे जूठन से ही तो बड़े घर पलते आये हैं। चोरी करने लायक चतुराई जिसमें नहीं है, वह मालिक के धन की रक्षा करने योग्य सांसारिक बुद्धि ही भला कहाँ से लायेगा? धर्मपुत्र युधिष्ठिर के द्वारा तो जमींदारी का काम चलने से रहा। अतएव मनोहर अत्यधिक चिढ़कर बोले, "अच्छा, अच्छा, नीलकंठ क्या करता है, क्या नहीं करता, सो इसका सोच तुम्हे नहीं करना है। और साथ ही साथ यह भी कहा, "ज़रा देखो तो भला। वंशी में ये सब पेंच नहीं हैं। वह कैसे ढंग से अपनी पढ़ाई-लिखाई करता रहता है। वह छोकरा तब ही थोड़ा-बहुत आदमियों जैसा हुआ है!"

किन्तु इसके बाद फिर उन अखिल मजूमदार की फजीहत की कहानी जम नहीं पायी। मनोहरलाल के लिए उस दिन की वसन्ती हवा बेकार हो गई और झील के काले पानी पर चाँदनी के झिलमिलाने की कोई उपयोगिता नहीं रही। उस दिन की सांझ

वह केवल वंशी और नीलकंठ के लिए। खिड़की बन्द किए वंशी कितनी ही रात तक पढ़ता रहा और उधर वकील के साथ सलाह-मशविरा करने में नीलकंठ ने आधी रात काट दी।

तब किरण दिया बुझाये खिड़की के निकट चुपचाप बैठी थी। घर के काम-धन्धों को आज उसने जल्द ही निबटा लिया था। ब्यालू अभी बाकी थी, लेकिन तब तक बनवारी ने नहीं खाया था, इसलिए वह उसकी राह देख रही थी। मधुकेवट की बात उसके ख्याल में भी नहीं थी। बनवारी मधु के दुःख का कोई प्रतिकार नहीं कर सकता इसके लिए उसके मन में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं था। अपने पति के निकट किसी दिन उसकी विशेष क्षमता का परिचय पाने के लिए वह उत्सुक ही नहीं होती थी। परिवार के गौरव में ही उसके पति का गौरव है। उसके पति श्वसुर के ज्येष्ठपुत्र हैं, इससे भी बढ़कर किसी गौरव-लाभ की उन्हें जरूरत है, ऐसा कोई विचार ही उसके मन में कभी नहीं आया। आखिर ये लोग गुसाईंगंज के सुविख्यात हालदार-परिवार के वंशज ठहरे! अब और क्या चाहिये।

बनवारी बहुत रात तक बाहर बरामदे में टहलते रहने के बाद कमरे में आया। उसे ख्याल ही न था कि उसने अभी तक खाया नहीं है। किरण उसके लिए खाये बिना राह देखती रही, इस स्वाभाविक बात ने भी उसे उस समय विशेष रूप से चोट पहुँचाई। किरण के इस कष्ट-सहन के साथ उसकी अपनी अकर्मण्यता का मानो कहीं मेल ही नहीं बैठ पाता। अन्न का कौर जैसे उसके गले में ही अटका रहा। वह अत्यन्त उत्तेजित होकर स्त्री से बोला "जैसे भी हो मधुकेवट की रक्षा मैं अवश्य करूँगा!" किरण उसकी इस अनावश्यक उग्रता को देख चकित होकर बोली, "भला सुनो तो इनकी बात! तुम उसे बचाओगे ही कैसे?"

बनवारी ने संकल्प किया कि मधु का ऋण वह स्वयं ही चुका देगा। लेकिन रुपया तो कभी उसके हाथ में जमा नहीं हुआ। इसलिए उसने मन ही मन पक्का कर लिया कि अपनी तीन बढ़िया बन्दूकों में से एक

बन्दूक और एक हीरे की कीमती अँगूठी—दोनों को बेचकर वह कुछ रुपये इकट्ठे करेगा। लेकिन देहात में तो इन सब चीजों की उचित कीमत मिल नहीं सकती, और बेचने की कोशिश करने से लोगों में कानाफूसी भी शुरू हो सकती है। इसलिए किसी काम का बहाना निकाल कर वह कलकत्ते चल दिया। जाते समय मधु को आश्वासन दे गया कि उसे डरने की कोई जरूरत नहीं है। इधर यह देखकर कि मधु ने बनवारी की शरण ली है, नीलकंठ उस पर क्रोध से आग बबूला हो उठा। जमींदार के प्यादों के अत्याचार से मांझियों के मुहल्लों की इज्जत-आबरू मुश्किल में पड़ गई।

जिस दिन बनवारी कलकत्ते से वापस लौटा, उस दिन मधु के लड़के सरूप ने हाँफते-हाँफते दौड़कर उसके पाँव पकड़ लिये और फूटफूटकर रोना शुरू किया। बनवारी बोला, "क्यों रे, आखिर क्या हुआ?" सरूप ने बताया कि पिछली रात ही से उसके बाप को नीलकंठ ने अपनी कचहरी में बन्द कर रखा है। यह सुनकर बनवारी की सारी देह क्रोध से फड़कने लगी। वह बोला, "तू अभी जाकर थाने में रपट लिखा आ!"

कैसा सत्यानाशी प्रस्ताव है! थाने में रपट! और वह भी नीलकंठ के खिलाफ। सरूप के पैर मानों पहाड़ हो गये। लेकिन आखिरकार बनवारी की डाट-डपट के कारण उसने थाने में जाकर शिकायत दर्ज करा दी। पुलिस अचानक जमींदार की कचहरी में आ धमकी। मधु को छुटकारा दिलाकर उसने नीलकंठ को तथा कचहरी के और कुछ प्यादों को मजिस्ट्रेट के सामने पेश कर दिया।

मनोहर बेहद परेशान हो गये। उनके अदालती कारिन्दे रिश्वत देने के बहाने पुलिस के साथ साँठ-गाँठ करके खासी रकम लूटने लगे। कलकत्ते से एक बैरिस्टर आया, जो बिल्कुल नया था और हाल में ही वकालत पास करके आया था। सुभीता यह था कि खर्च की मद के खाते में उनके नाम पर जितनी फीस लिखी जाती, उतनी उनकी जेब तक

पहुँचनी जरूरी नहीं थी। उधर मधु केवट की ओर से जिला अदालत के एक सुयोग्य वकील खड़े हुए। उनका खर्च कौन पूरा कर रहा था, इसका किसी को पता नहीं था। नीलकंठ को छः महीने की सजा हुई। हाईकोर्ट में अपील होने पर भी यही सजा बहाल रही।

घड़ी और बन्दूक दोनों ही जिस उचित मूल्य पर बिके थे वह व्यर्थ नहीं गया। फिलहाल तो मधु बच गया और नीलकंठ को कैदखाने की सज़ा मिली। लेकिन इस घटना के बाद अब मधु अपने पुश्तैनी मकान में रहे किस बल पर। बनवारी ने उसे आश्वासन देते हुए कहा, "तू डटा रह अपने मकान में, तुझे भला किसका डर है!" लेकिन किस जोर से उसने यह भरोसा दिया सो वही जाने। शायद अपने पौरुष के अभिमान में ही उसने मधु को यह आश्वासन दिया था।

बनवारी ने इस बात को छिपाने की कोई खास कोशिश नहीं की कि इस समूचे मामले की जड़ में वह स्वयं था। बात जाहिर हो गई। यहाँ तक कि बड़े सरकार के कानों तक भी पहुँची। उन्होंने नौकर के हाथ कहला भेजा कि आइन्दा बनवारी उनकी नजर के सामने न पड़े, वरना उसकी खैरियत नहीं है। बनवारी ने भी पिता की आज्ञा कभी नहीं टाली। किरण तो अपने पति का यह ढंग देखकर हैरान रह गई। यह भला कैसी बात है! घर के बड़े सरकार—अपने पिता के साथ ही बोलचाल बन्द है! तिसपर अपने ही अमले को जेल भेजकर दुनिया के आगे अपने ही परिवार का सिर नीचा कर दिया और वह भी किसी मामूली केवट को लेकर!

भला अचम्भा और किसे कहते हैं? इस वंश में अनादि काल से लेकर आज तक कितने ही बड़े सरकार तो पैदा हुए होंगे, और ऐसे नीलकंठ का भी कभी अभाव नहीं हुआ होगा। नीलकंठों ने आज तक सदा धन सम्पत्ति का सारा जिम्मा अपने ही कंधों पर लिया है और बड़े सरकार लोगों ने सब प्रकार निश्चेष्ट होकर वंश-गौरव की रक्षा की है। यही तो सदा से अनायास होता आया है। इसका उलटा तो कभी भी घटित नहीं हुआ।

इसलिए आज इस परिवार के बड़े सरकार के अपमान से घर की बड़ी बहू की इज्जत को धक्का पहुँचा। इतने दिन बाद इस घटना से पहली बार किरण के मन में पति के प्रति अश्रद्धा होने का कारण उत्पन्न हुआ। इतने दिन बाद आज फागुन की बासन्ती साड़ी और बेलापुष्पों की माला लज्जा से मलिन हो आई।

किरण बड़ी हुई, लेकिन उसके कोई सन्तान नहीं थी। नीलकंठ ने एक दिन बड़े बाबू को राजी कराकर लड़की टीक करके बनवारी का एक और भी ब्याह पक्का ही कर डाला था। बनवारी हालदार वंश का सबसे बड़ा लड़का है, यही बात सबसे पहले याद रखने की है। वह निःसन्तान होकर रहे, वह हो ही नहीं सकता। इस मामले में किरण का हृदय धुक-धुक करता रहता था। किन्तु तब भी मन ही मन वह इस बात को अस्वीकार भी नहीं कर सकती थी कि प्रस्ताव उचित ही था। उस समय भी उसने नीलकंठ पर कोई क्रोध नहीं किया था। केवल अपने भाग्य को दोष देकर वह रह गई थी। उसका पति अगर क्रोध में आकर नीलकंठ के साथ मारपीट तक करने के लिए खड़ा न हो जाता और ब्याह की बात तोड़कर माता-पिता के साथ खटपट न कर बैठता तो इसे भी किरण अन्याय न गिनती। यहाँ तक कि अपने वंश की बात जो बनवारी के ध्यान में नहीं आई, इसपर किरण के चित में चुपके-चुपके बनवारी के पौरुष के प्रति थोड़ी-बहुत अश्रद्धा ही हुई थी। बड़े घर का दावा क्या सहज दावा होता है! उसे निष्ठुर होने का सौ बार अधिकार है। किसी तरुणी स्त्री का किसी केवट के सुख-दुख का इसकी तुलना में आखिर मूल्य ही क्या है।

लेकिन बनवारी इसे किसी भी तरह समझ न पाया कि जो कुछ साधारणतया हुआ करता है, उसके एकाध बार न होने पर लोग उसे क्यों क्षमा नहीं कर सकते। इस घर में सम्पूर्णतया उसी को घर का बड़ा बाबू होना उचित है—दूसरे, किसी प्रकार के उचितानुचित का विचार करके यहाँ की

अनादिकालीन धारा को नष्ट करना बड़ा भारी अकर्तव्य है। इस बात को उसके सिवा और सब लोग सुस्पष्ट देख पाते हैं।

इस बात को लेकर किरण ने अपने देवर के निकट कितनी बार दुख रोया है। वंशी बुद्धिमान है। खाना उसे हजम नहीं होता और तनिक-सी हवा का झोंका लगते ही वह छींक-छींक कर तथा खाँस-खाँस कर बेचैन हो उठता है, तब भी वह स्थिर धीर और विचक्षण आदमी है। वह अपनी कानून की किताब का जो अध्याय पढ़ रहा था, उसे खुली अवस्था में ही उल्टाकर मेज़ पर रखते हुए किरण से बोला, "यह सब पागलपन के सिवा और कुछ नहीं है।" किरण बहुत उद्विग्न होकर सिर हिलाते हुए बोली, "तुम तो जानते ही हो, लाला! तुम्हारे बड़े भैया जब तक अच्छे रहते हैं तब तक तो खासे अच्छे रहते हैं, लेकिन एक बार किसी बात को लेकर बौराये तो फिर उन्हें कोई सँभाल नहीं सकता। अब मैं करूँ तो क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

जब परिवार के सभी प्रकृतिस्थ लोगों के साथ किरण का मत मिल गया तो बनवारी के जी में इसी की व्यथा सबसे अधिक चुभी। यह जो जरा-सी लड़की है, अधखिले चंपे की कली की तरह सुकोमल—इसके हृदय को अपनी वेदना के निकट खींच लाने की पुरुष की समस्त शक्ति जैसे परास्त हो गई। आज यदि किरण बनवारी के साथ एक हो पाती तो उसके हृदय का घाव कभी इस तरह देखते-देखते बढ़ न पाता।

ग़रीब मधु केवट को अत्याचार से बचाना होगा, इस सीधे-से कर्तव्य की बात चारों ओर की चोट खाकर बनवारी के लिये सचमुच ही एक पागलपन की तरह बन बैठी। इसकी तुलना में और सारी बातें उसके निकट छोटी ही पड़ीं। उधर नीलकंठ जेल काटकर इस तरह इत्मीनान से लौट आया मानों वह जमाई-षष्ठी का न्यौता निबटाने के लिए ही जेल गया था। लौटकर वह फिर अम्लान मुख से पूर्ववत् काम-धन्धा चलाने लगा।

मधु को इस बार बे-घर-बार किये बिना प्रजा के आगे नीलकंठ की

इज्जत बची नहीं रह सकती। वैसे व्यक्तिगत रूप से अपनी आबरू के लिए नीलकंठ खाक कुछ नहीं सोचता, लेकिन अगर प्रजा उसे न माने तब तो उसका काम ही नहीं चल सकता। इसीसे उसे सावधान होना पड़ता है। फल यह हुआ कि मधु को तिनके की तरह उखाड़ फेंकने के लिए नीलकंठ बेचैन रहने लगा।

इस बार बनवारी छिपा नहीं रहा। उसने नीलकंठ को बार-बार जता दिया कि चाहे जैसे हो, वह मधु को उखड़ने नहीं देगा। सबसे पहले उसने मधु का कर्जा स्वयं ही पटा दिया फिर कोई अन्य उपाय न देखकर स्वयं मजिस्ट्रेट को बता आया कि नीलकंठ द्वेष और अन्यायपूर्वक मधु को आफ़त में डालने की कोशिश कर रहा है। मनोहर बनवारी को त्याग देंगे। त्याग करने से जो बेकार के कितने ही बखेड़े खड़े हो जायँगे, उनके उठने की संभावना अगर न होती तो मनोहर ने अब तक बनवारी को कब का त्याग दिया होता। लेकिन बनवारी की माँ बची हुई है और अपने-पराये के विभिन्न लोगों के विभिन्न मत हैं, अतएव इस मामले को उठाकर नाहक गड़बड़ी शुरू करने के लिए मनोहर, फिलहाल बिल्कुल राजी नहीं थे। इसीसे वे अब तक चुप थे।

मामला इसी तरह चल रहा था कि एक दिन अचानक सवेरे देखा गया कि मधु के द्वार पर ताला पड़ा है। रातोरात वह न जाने कहाँ गायब हो गया। बात यह थी कि मामले को बहुत अधिक अशोभन होते देख नीलकंठ ने जमींदार के ख़जाने से रुपये देकर उसे सपरिवार काशी भेज दिया था। पुलिस इस बात को जानती थी, इसलिए कोई टंटा नहीं खड़ा हुआ। तब भी नीलकंठ ने सब जगह यही फैला दिया कि पिछली अमावस की रात स्त्री, पुत्र और कन्या सहित मधु को कालीमाता के चरणों में बलिदान करके, उन लोगों की लाशों को किसी टाट के बोरे में ठूँसकर बीच गंगा में डुबो दिया गया है। मारे डर के सबके रोएँ खड़े हो गये और साधारण लोगों पर नीलकंठ का रोब और भी बढ़ गया।

जिस बात को लेकर बनवारी पर आज तक नशा-सा छाया हुआ था,

उसकी फिलहाल शांति हो गई। लेकिन दुनिया अब उसके लिये ठीक पहले जैसे न हो पायी।

वंशी को किसी दिन बनवारी बहुत अधिक प्यार करता था, किन्तु आज उसने देखा कि वंशी उसका अपना कोई नहीं है। वह केवल हालदार परिवार का एक सदस्य मात्र है। और उसकी किरण—जिसने यौवन शुरू होने के पूर्व ही उसके हृदय के लतावितान को आचन्न कर लिया था—वह भी सब प्रकार उसकी अपनी नहीं है, वह भी हालदार परिवार की ही है।

किन्तु वसंत की हवा फिर भी बहती ही है, श्रावण की सघन वर्षा मुखरित हो उठती है, और अतृप्त प्रेम की वेदना से शून्य होकर हृदय की हर गली में रोती-बिसूरती भटका करती है। प्रेम की निविड़ता की जरूरत सबको होती भी कहाँ है! दुनिया में सबसे छोटे और बँधे हुए प्रेम से ही अधिकांश मनुष्यों का काम बहुत मज़े में चल जाता है। इस सीमित व्यवस्था के भीतर इस असीम संसार में कोई उपद्रव नहीं खड़ा होता। लेकिन किसी किसी का काम इतने से नहीं चलता। वे लोग अज्ञात पंछी की तरह सिर्फ अंडे के भीतर के संकीर्ण खाद्यरस से ही जिन्दा नहीं रहते। वे तो अंडे को फोड़कर बाहर निकले हुए पक्षी की तरह होते हैं, अतएव उन्हें अपनी ही शक्ति से भोजन जुटाने योग्य बृहत् क्षेत्र चाहिये। बनवारी ने ऐसी ही भूख लेकर जन्म लिया था, अपने प्रेम को अपने पौरुष द्वारा सार्थक करने के लिये उसका मन व्याकुल था। किन्तु वह जिस ओर दौड़ता उसी ओर हालदार परिवार की पक्की दीवारें खड़ी मिलतीं। तनिक-सा हिलते ही उसका सिर उनसे टकरा जाता।

दिन फिर पहले की ही तरह कटने लगे। सिर्फ पहले की अपेक्षा बनवारी ने शिकार में अब कुछ ज्यादा मन लगा दिया। इसके सिवा बाहर से उसके जीवन में और कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई दिया! भोजन के लिए वह अन्तःपुर में चला जाता और खाने के बाद स्त्री के साथ पहले के ही समान बातचीत भी होती। मधु केवट को किरण आज

भी माफ नहीं कर पायी है, क्योंकि इस परिवार में बनवारी को जो अपनी प्रतिष्ठा खोनी पड़ी है, उसका मूल कारण यह मधु ही था। इसीसे बातों-बातों में जाने कैसे मधु का उत्साह अत्यन्त कटु होकर किरण के मुँह से निकल पड़ता। मधु की नस-नस में नीचता समायी हुई है, वह शैतानों का सरदार है और उस पर दया करना खुद ही बेवकूफ बनना है—ये बातें बार-बार विस्तार से सुनाकर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। बनवारी ने दो-एक बार विरोध करने की चेष्टा करके किरण की उत्तेजना को और भी प्रबल कर डाला। अतः तबसे अब वह कभी जरा भी विरोध नहीं करता। इस तरह बनवारी अपने नियमित गृहधर्म को निबाहने लगा। किरण भी इससे कोई अभाव या अपूर्णता नहीं अनुभव करती। लेकिन भीतर ही भीतर बनवारी का जीवन फीका और रसहीन होने लगा।

इन्हीं दिनों खबर मिली कि घर की छोटी बहू, वंशी की स्त्री गर्भिणी है। सारा परिवार आशा से उत्फुल्ल हो उठा। इस महत् वंश के प्रति किरण आज तक अपने कर्तव्य में जो त्रुटि करती आ रही थी, इतने दिनों बाद आज उसके पूर्ण होने की संभावना दिखाई पड़ी। अब षष्ठी माता की कृपा से लड़की न होकर लड़का हो तभी खैर हो।

हुआ भी लड़का ही। छोटे बाबू कालिज की परीक्षा में तो उत्तीर्ण हो ही चुके थे, अब वंश की परीक्षा में भी अव्वल रहे। उनके प्रति घर का दुलार दिन-बदिन वैसे ही बढ़ता जा रहा था, अब तो उसकी कोई सीमा ही न रही।

घर के सभी लोग इस बच्चे में एकबारगी ही रम गये। किरण तो पल भर के लिये भी उसे गोद से उतारना नहीं चाहती। उसकी ऐसी दशा हो गई कि वह मधु केवट के कभी न भूलने वाले कांड को भी प्रायः भूल गई।

बनवारी के मन में भी बच्चे के लिये बड़ा प्रबल स्नेह था। जो कुछ भी तनिक-सा होता, अक्षम और सुकुमार होता, उसके प्रति उसकी बड़ी गंभीर ममता और करुणा हुआ करती। प्रत्येक आदमी की प्रकृति के

उसकी फिलहाल शांति हो गई। लेकिन दुनिया अब उसके लिये ठीक पहले जैसे न हो पायी।

वंशी को किसी दिन बनवारी बहुत अधिक प्यार करता था, किन्तु आज उसने देखा कि वंशी उसका अपना कोई नहीं है। वह केवल हालदार परिवार का एक सदस्य मात्र है। और उसकी किरण—जिसने यौवन शुरू होने के पूर्व ही उसके हृदय के लतावितान को आचन्न कर लिया था—वह भी सब प्रकार उसकी अपनी नहीं है, वह भी हालदार परिवार की ही है।

किन्तु वसंत की हवा फिर भी बहती ही है, श्रावण की सघन वर्षा मुखरित हो उठती है, और अतृप्त प्रेम की वेदना से शून्य होकर हृदय की हर गली में रोती-बिसूरती भटका करती है। प्रेम की निविड़ता की जरूरत सबको होती भी कहाँ है! दुनिया में सबसे छोटे और बँधे हुए प्रेम से ही अधिकांश मनुष्यों का काम बहुत मज़े में चल जाता है। इस सीमित व्यवस्था के भीतर इस असीम संसार में कोई उपद्रव नहीं खड़ा होता। लेकिन किसी-किसी का काम इतने से नहीं चलता। वे लोग अज्ञात पंछी की तरह सिर्फ अंडे के भीतर के संकीर्ण खाद्यरस से ही जिन्दा नहीं रहते। वे तो अंडे को फोड़कर बाहर निकले हुए पत्ती की तरह होते हैं, अतएव उन्हें अपनी ही शक्ति से भोजन जुटाने योग्य वृहत् क्षेत्र चाहिये। बनवारी ने ऐसी ही भूख लेकर जन्म लिया था, अपने प्रेम को अपने पौरुष द्वारा सार्थक करने के लिये उसका मन व्याकुल था। किन्तु वह जिस ओर दौड़ता उसी ओर हालदार परिवार की पक्की दीवारें खड़ी मिलतीं। जनिक-सा हिलते ही उसका सिर उनसे टकरा जाता।

दिन फिर पहले की ही तरह कटने लगे। सिर्फ पहले की अपेक्षा बनवारी ने शिकार में अब कुछ ज्यादा मन लगा दिया। इसके सिवा बाहर से उसके जीवन में और कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई दिया! भोजन के लिए वह अन्तःपुर में चला जाता और खाने के बाद स्त्री के साथ पहले के ही समान बातचीत भी होती। मधु केवट को किरण आज

पर-दिन गहरी ही होती जा रही थी। दुनिया के सब लोग जो बनवारी की अपेक्षा सब विषयों में वंशी को ही योग्य समझा करते हैं अब तक इसे भी बनवारी सहता आया है, किन्तु जब उसने देखा कि आदमीयत के नाते भी वंशी का ही मूल्य ज्यादा ठहरा है, तब यह जानकर उसका मन कुछ विशेष प्रसन्न नहीं हो पाया।

इसी बीच परीक्षा के समय के आस-पास कलकत्ते वाले घर से खबर आई कि वंशी को बुखार आने लगा है और डाक्टरों को ऐसी आशंका हो रही है कि शायद नीरोग होना असम्भव हो गया है। बनवारी ने कलकत्ते जाकर रात-दिन एक करके उसकी सेवा की, लेकिन वह उसे बचा नहीं पाया।

मृत्यु ने आकर बनवारी की कटु-स्मृति के सारे काँटे निर्मूल कर डाले। वंशी उसका छोटा भाई था और बचपन से अपने बड़े भैया की गोद में ही उसने स्नेह का आश्रय पाया था। केवल यही बात बनवारी के मन में आँसुओं से धुलकर उज्जवल हो उठी।

इस बार कलकत्ते से लौट आने पर बनवारी ने अपने प्राणों का सारा यत्न ढाल कर इस शिशु के लालन-पालन का संकल्प किया। लेकिन जहाँ तक इस बच्चे का सम्बन्ध है, बनवारी के प्रति किरण अपना विश्वास खो बैठी थी। हरिदास के प्रति अपने पति के विराग को किरण ने पहले ही भाँप लिया था। स्वामी के सम्बन्ध में किरण के मन में ऐसी एक धारणा-सी बन बैठी थी कि अन्य लोगों के लिए जो बात स्वाभाविक है, बनवारी के लिए ठीक उसकी उलटी बात ही सहज होती है। हरिदास तो उनके कुल का एक मात्र दीपक है। इस कुल-दीपक का ठीक-ठीक मूल्य आम-तौर पर सभी समझते हैं, अतएव किरण का पक्का विश्वास है कि महज इसी कारण उसके पति इस बात को बिल्कुल नहीं समझ पाते। उसके मन में सदा यही खटका बना रहता कि कहीं बनवारी की विद्वेष-दृष्टि से बच्चे का अमंगल न हो! उसका देवर तो अब रहा नहीं, उधर किरण की संतान-संभावना में भी कोई भरोसा नहीं था। अतएव इस शिशु को सब

भीतर विधाता कुछ ऐसी भी चीज छोड़ते हैं, जो उसकी प्रकृति के विरुद्ध पड़ती है। वरना बनवारी जैसा दयालु व्यक्ति पक्षियों का शिकार कैसे कर पाता है, इसे समझना ही कठिन होता।

किरण की गोद में एक शिशु को खेलते देखने की चाह बनवारी के जी में बहुत दिनों से सोयी हुई थी। यही कारण था कि वंशी के सन्तान होने पर पहले उसके मन में थोड़ी-सी ईर्ष्या की पीड़ा जाग उठी, लेकिन फिर उसे दूर करने में उसे कुछ विशेष देर नहीं लगी। इस बच्चे को बनवारी खूब ही प्यार कर सकता था, लेकिन फिर उसे दूर करने में उसे कुछ विशेष देर नहीं लगी।

जैसे-जैसे दिन बीतने लगे किरण भी बच्चे को लेकर अत्यधिक व्यस्त रहने लगी। स्त्री के साथ बनवारी के मिलन में काफी लम्बा अवकाश पड़ने लगा, बनवारी को साफ़ दिखाई पड़ने लगा कि आखिर इतने दीर्घ दिनों के बाद किरण ने कोई ऐसी चीज पाई है, जो सचमुच ही उसके हृदय को परिपूर्ण कर सकती है। बनवारी मानों अपनी स्त्री के हृदय-गृह का कोई किरायेदार हो, जितने दिनों तक मकान-मालिक अनुपस्थित थे, उतने दिनों तक तो उसने ही सारे घर का उपभोग किया—किसी ने कोई रोक-टोक भी नहीं की, लेकिन अब गृहस्वामी स्वयं आ पहुँचे हैं, इसलिए किरायेदार बेचारा सारा घर खाली करके केवल अपने सोने के कमरे का ही अधिकारी रह गया है। किरण स्नेह के भीतर कहाँ तक डूब सकती है, उसके आत्म-विसर्जन की शक्ति कितनी प्रबल है, इसे बनवारी ने देखा तो मानों उसके मन ने सिर हिलाते हुए कहा, "इस लड़की के हृदय को मैं तो कभी जगा न पाया। हालाँकि जो कुछ मेरे वश में था उसे करने में मैंने कभी कुछ भी उठा नहीं रखा था।"

और सिर्फ इतना ही नहीं, इसी बच्चे के नाते किरण के लिए वंशी का कमरा ही ज्यादा अपना हो उठा है। उसकी सारी मन्त्रणा और आलोचना वंशी के साथ ही ज्यादा जमती है। उस सूक्ष्मबुद्धि, सूक्ष्मशरीर, रसरक्तहीन, क्षीणजीवी भीरु आदमी के प्रति बनवारी की अवज्ञा दिन-

हर अपनी जायदाद हरिदास को ही दे गये हैं। बनवारी को आजीवन दो सौ रुपये महीना मिलता रहेगा। नीलकंठ वसीयतनामे का एग्ज़ीक्यूटर था। उसी पर यह भार छोड़ा गया था कि वह जब तक जीवित रहे तब तक हालदार परिवार की धन-सम्पत्ति और घर-गृहस्थी की सारी व्यवस्था करता रहे।

बनवारी ने समझ लिया कि इस परिवार में उसके हाथों कोई अपने बच्चे को सौंपकर भी निश्चिन्त नहीं हो पाता, अपनी जायदाद को भी नहीं। इस घर में इस विषय में किसी में मतभेद नहीं था कि बनवारी के किये कुछ भी नहीं हो सकता। वह तो जो कुछ हाथ लगे, उसे सिर्फ बरबाद करना ही जानता है। इसलिए उसके लिये यही निश्चित किया गया है कि वह निर्दिष्ट परिमाण में भोजन करके कमरे के किसी कोने में निर्विघ्न सोया पड़ा रहे। बनवारी ने यह सब समझकर किरण से कहा, "मैं नीलकंठ की दी हुई पेंशन पर जीवित नहीं रह सकता। चलो, इस घर को छोड़कर मेरे साथ कलकत्ते चलो।"

उत्तर मिला, "हाय राम! यह भला कैसी बात है। यह जायदाद तो सब तुम्हारे बाप की ही है और हरिदास तो तुम्हारे अपने लड़के के समान है! सब जायदाद जो उसके नाम लिख दी गई है तो क्या तुम इसीलिए नाराज हो? हाय! हाय!" उसने सोचा कि मेरे पति का दिल किस पत्थर का बना है, इस फूल से बच्चे के प्रति भी वह ईर्ष्या करता है! उसके ससुर जो वसीयतनामा छोड़ गये हैं, किरण मन ही मन उसका पूरा समर्थन करती है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि अगर जायदाद बनवारी के हाथों पड़ती तो दुनिया भर के ओछे लोग—जदू और मधु, माझी और मुसलमान, ग्वाले और जुलाहे—सब नीच जात मिलकर बनवारी को बेवक़ूफ़ बनाकर ठग लेने में कुछ भी बाकी नहीं रखते और हालदार-परिवार की यह भावी आशा हरिदास किसी अकूल पारावार में डूबता-उतराता फिरता। भाग्य से ससुर के कुल में दीपक जलानेवाला प्रकाश तो घर ही आ पहुँचा है। अब बिचारा नीलकंठ इसी

प्रकार के अकल्याण से अछूता रख पाने में ही खैरियत है। इस प्रकार बनवारी के लिये बंशी के बच्चे के लालन-पालन का रास्ता भी सहज नहीं रह पाया।

घर के लोगों के दुलार में बच्चा बड़ा होने लगा। उसका नाम रखा गया था हरिदास। बराबर अत्यधिक लाड़-प्यार से छाये रहने के कारण यह लड़का जाने कैसा दुर्बल और क्षणभंगुर आकार का हुआ। तागा-ताबीज और गंडा-कवच से उसकी सारी देह ढँकी रहती, रक्षकों का दल उसे हमेशा घेरे रहता।

इसी दुर्ग की किसी संधि से बनवारी के साथ उसकी भेंट होती। अपने ताऊ के घोड़े पर चढ़कर चाबुक फटकारना उसे बहुत अच्छा लगता। मिलते ही वह उसे पुकारता बाबू! बनवारी कमरे से चाबुक निकाल लाता और उसे हवा में सन्सनाया करता। केवल इतने से ही बच्चा प्रसन्न हो उठता। बनवारी ने एक रोज उसे अपने घोड़े पर बिठा दिया तो इसपर घर-भर के लोग 'हैं-हैं' करते दौड़ पड़े। कभी-कभी बनवारी बंदूक लेकर बच्चे के साथ खेला करता, तब अगर किरण कभी देख पाती तो फौरन दौड़कर बच्चे को वहाँ से दूर हटा ले जाती। लेकिन इन्हीं सब निषिद्ध खेलों में ही हरिदास का सबसे अधिक अनुराग था। इसीसे सब तरह के विघ्न और अड़चन रहने पर भी वह अपने ताऊ के साथ खूब हिल गया।

बहुत दिनों के बाद अकस्मात् इस परिवार में मृत्यु का आना-जाना आरम्भ हुआ। पहले मनोहर की स्त्री की मृत्यु हुई। इसके बाद जिस समय नीलकंठ बड़े सरकार के लिए विवाह का उद्योग और पात्री की तलाशी कर रहा था, उसी समय व्याह के लग्न के पूर्व ही मनोहर का देहान्त हो गया। तब हरिदास की उम्र आठ वर्ष की थी। मृत्यु के समय मनोहर विशेष रूप से अपने इस छोटे-से वंशधर को किरण तथा नीलकंठ के हाथों सौंप गये—बनवारी से बात भी नहीं की।

जब संदूक से वसीयतनामा निकाला गया तो मालूम हुआ कि मनो-

हर अपनी जायदाद हरिदास को ही दे गये हैं। बनवारी को आजीवन दो सौ रुपये महीना मिलता रहेगा। नीलकंठ वसीयतनामे का एक्ज़ीक्यूटर था। उसी पर यह भार छोड़ा गया था कि वह जब तक जीवित रहे तब तक हालदार परिवार की धन-सम्पत्ति और घर-गृहस्थी की सारी व्यवस्था करता रहे।

बनवारी ने समझ लिया कि इस परिवार में उसके हाथों कोई अपने बच्चे को सौंपकर भी निश्चिन्त नहीं हो पाता, अपनी जायदाद को भी नहीं। इस घर में इस विषय में किसी में मतभेद नहीं था कि बनवारी के किये कुछ भी नहीं हो सकता। वह तो जो कुछ हाथ लगे, उसे सिर्फ बरबाद करना ही जानता है। इसलिए उसके लिये यही निश्चित किया गया है कि वह निर्दिष्ट परिमाण में भोजन करके कमरे के किसी कोने में निर्विघ्न सोया पड़ा रहे। बनवारी ने यह सब समझकर किरण से कहा, "मैं नीलकंठ की दी हुई पेंशन पर जीवित नहीं रह सकता। चलो, इस घर को छोड़कर मेरे साथ कलकत्ते चलो।"

उत्तर मिला, "हाय राम! यह भला कैसी बात है। यह जायदाद तो सब तुम्हारे बाप की ही है और हरिदास तो तुम्हारे अपने लड़के के समान है! सब जायदाद जो उसके नाम लिख दी गई है तो क्या तुम इसीलिए नाराज हो? हाय! हाय!" उसने सोचा कि मेरे पति का दिल किस पत्थर का बना है, इस फूल से बच्चे के प्रति भी वह ईर्ष्या करता है! उसके ससुर जो वसीयतनामा छोड़ गये हैं, किरण मन ही मन उसका पूरा समर्थन करती है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि अगर जायदाद बनवारी के हाथों पड़ती तो दुनिया भर के ओछे लोग—जदू और मधु, माझी और मुसलमान, ग्वाले और जुलाहे—सब नीच जात मिलकर बनवारी को बेवकूफ बनाकर ठग लेने में कुछ भी बाकी नहीं रखते और हालदार-परिवार की यह भावी आशा हरिदास किसी अकूल पारावार में डूबता-उतराता फिरता। भाग्य से ससुर के कुल में दीपक जलानेवाला प्रकाश तो घर ही आ पहुँचा है। अब बिचारा नीलकंठ इसी

ब्रात का पहरा तो दे रहा है कि इस दीपक का तेल कभी समाप्त न होने पाये।

बनवारी ने देखा कि नीलकंठ अन्तःपुर में आकर हर कमरे की चीजों की फेहरिस्त तैयार कर रहा है और जहाँ जो कुछ बक्से—संदूक रखे हुए हैं, उनमें अपना ताला लगा रहा है। अन्त में किरण के कमरे में आकर वह बनवारी के रोजमर्रा व्यवहार की चीजों को भी फेहरिश्त में चढ़ाने लगा। अन्तःपुर में नीलकंठ का आना-जाना होता ही है। इसलिए किरण उससे पर्दा नहीं करती। वह दिवंगत श्वसुर के शोक में आँसू पोंछते समय जो अवकाश पा रही थी, उसी में रुँधे हुए गले से स्वयं ही सारी चीजों को फेहरिस्त में दर्ज कराने लगी। बनवारी ने सिंह की तरह दहाड़ते हुए नीलकंठ से कहा, "तुम मेरे कमरे से इसी वक्त निकल जाओ!"

नीलकंठ ने विनम्रता से जवाब दिया, "बड़े बाबू, इसमें मेरा तो कोई अपराध नहीं है, बड़े सरकार की वसीयत के अनुसार मुझे ही तो सब कुछ सहेज लेना होगा। चीज वस्तु तो सब कुछ अब हरिदास ही की ठहरी या नहीं?"

पति का रुख देखकर किरण ने मन ही मन कहा! देखो तो भला हरिदास क्या कोई पराया है? अपने ही लड़के की चीजों को ठीक तरह से सहेज लेने में भला शर्म ही क्या है? और फिर माल-असबाब क्या किसी के साथ जाता है? आज नहीं तो कल, आखिर हमारा सब कुछ ये बाल-बच्चे ही तो भोग करेंगे!

लेकिन इस घर की जमीन अब बनवारी के पावों तले काँटों की तरह चुभने लगी उसकी वेदना ठीक किसलिए है यह सुननेवाला भी इस परिवार में कोई न रहा।

घर-द्वार ठीक इसी समय छोड़कर यहाँ से निकल भागने के लिए बनवारी का मन व्याकुल हो उठा। लेकिन उसके गुस्से की आग कहाँ शान्त होना चाहती है। वह चला जायगा और यहाँ नीलकंठ बड़े

आराम से एकछत्र राज करेगा। यह विचार ही बनवारी को दुःसह लगता है। इसी दम किसी न किसी तरह का कोई बड़ा अनिष्ट किये बिना उसका जी शान्त नहीं होना चाहता। वह बोला, "नीलकंठ किस तरह जायदाद की रक्षा करता है यह मैं देख लूँगा!"

बाहर आकर उसने पिता के कमरे में किसी को नहीं पाया। सब लोग अन्तःपुर में चीज-वस्तु और गहना-गुरिया की हिफाजत में लगे हुए थे। अत्यन्त सावधान आदमी से भी कभी-कभी सावधानी में त्रुटि हो जाती है। नीलकंठ को याद नहीं था कि मालिक की संदूक खोलकर वसीयतनामा निकाल लेने के बाद उसने उसे खुला ही छोड़ दिया था।

इसी संदूक में बहुत से दस्तावेजों का एक पुलिन्दा रखा था। इन्हीं कागज-पत्रों पर हालदार परिवार की सम्पत्ति की नींव खड़ी थी।

बनवारी इन दस्तावेजों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, लेकिन इतना समझता था कि ये कागज-पत्र बड़े काम के हैं और इनके अभाव में मामले मुकद्दमों में पग-पग पर गाड़ी अटक सकती है। उस पुलिन्दे को निकाल कर और अपने रुमाल में लपेटकर बनवारी बाहर आ गया, और बैठक के बाहर वाले बगीचे में चंपे के पेड़ के नीचे बने पक्के चबूतरे पर बैठकर बहुत देर तक विचारों में डूबा रहा।

दूसरे दिन श्राद्ध के सम्बन्ध में सलाह करने के लिये नीलकंठ बनवारी के पास पहुँचा। नीलकठ के शरीर की भंगिमा तो बड़ी विनम्र होती, किन्तु उसके चेहरे में जाने कौन-सी बात हुआ करती थी, या फिर किसी वस्तु का अभाव रहा करता था, जिसे देखकर बनवारी का जी जल उठता था। उसे ऐसा लगा मानों नम्रता द्वारा नीलकंठ उसकी मजाक बना रहा है। नीलकंठ बोला, "मालिक के श्राद्ध के विषय में आपसे कुछ..."

बनवारी ने उसे अपनी बात खतम करने देने के पहले ही कहा, "वह सब मैं क्या जानूँ!"

"भला यह कैसी बात हुई! आप ही तो श्राद्ध के अधिकारी हैं।"

"वाह! कितना बड़ा अधिकार है! श्राद्ध का अधिकार संसार में बस

इतने ही के लिए मेरी जरूरत है—बाकी और किसी काम का मैं नहीं हूँ !" फिर बनवारी गरज उठा, "जाओ, जाओ ! मुझे परेशान मत करना कहे देता हूँ ।"

नीलकंठ चला गया, लेकिन उसकी पीठ देखकर ही बनवारी को ऐसा लगा जैसे वह हँसता-हँसता गया हो । उसे लगा मानों घर के सारे नौकर-चाकर उसे लेकर हँसी-मजाक करते हैं । जो आदमी घर का है और फिर भी घर का नहीं है, उसके समान अभागा और कौन होगा !

बनवारी दस्तावेजों का पुलन्दा लिये घर के बाहर आ गया । हालदार परिवार के पड़ोसी और प्रतिद्वन्द्वी प्रतापपुर के बनर्जी वंश के जमींदार लोग थे । बनवारी ने निश्चय किया कि वह इन कागजों को उन्हीं के हाथों सौंप देगा । जायदाद सारी धूल में मिल जाय ।

घर से निकलते समय ऊपर की मंजिल से हरिदास ने अपने सुमधुर शिशुकंठ से पुकारकर कहा, "बड़े चाचाजी, तुम बाहर जा रहे हो, मैं मैं तुम्हारे साथ जाऊँगा ।"

बनवारी ने सोचा, बच्चे के अशुभ-ग्रहों ने मानो जान-बूझकर उसके मुँह से यह बात कहला दी हो । मैं तो घर-द्वार छोड़कर राहघाट में निकल ही आया हूँ—इसे भी घर से बाहर निकालूँगा । जाय हो जाय, सबका सत्यानाश हो जाये ।

बाहर के बाग तक पहुँचते ही बनवारी ने कहीं खासा गोलमाल होता हुआ सुना । पास ही बगिया से लगी किसी विधवा की झोपड़ी में आग लग गई थी । अपने हमेशा के अभ्यास के अनुसार ऐसे दृश्य को देखकर बनवारी फिर रुक न सका । कागजों का पुलिन्दा वहीं चम्पे के तले चबूतरे पर रखकर वह उस जलती हुई झोपड़ी की ओर दौड़ पड़ा ।

जब वह वापस आया तब कागजों का बण्डल वहाँ नहीं था । पल भर में ही यह बात उसकी छाती में सेल की तरह चुभ गई कि नीलकंठ के निकट फिर एक बार मेरी हार हुई । विधवा का घर जलकर राख ही

हो जाता तो इसमें उसकी कौन-सी हानि थी। उसे लगा मानो चतुर नीलकंठ के ही हाथ फिर वह लग गया हो।

एकदम तूफान की तरह बनवारी सीधे कचेहरी के कमरे में आ पहुँचा। नीलकंठ ने जल्दी-जल्दी सन्दूक बन्द करके बाअदब खड़े होकर बनवारी को प्रणाम किया। बनवारी को ऐसा लगा जैसे नीलकंठ ने उसी बक्स में दस्तावेज छिपाकर रख लिये हैं। बिना कुछ कहे-सुने उसने सीधे सन्दूक खोलकर कागज-पत्रों की छान-बीन शुरू कर दी। बक्स में हिसाब-किताब के खाते और उन्हीं से संलग्न कागज-पत्र भी नजर आये। सन्दूक को उलटा करके झाड़ने पर भी कुछ न मिला। रुँधे हुए गले से बनवारी ने पूछा, क्या तुम चबूतरे की तरफ गये थे?"

नीलकंठ बोला, "जी हाँ, गया था। देखा, आप परेशान होकर कहीं दौड़े जा रहे थे। आखिर मामला क्या है, यही जानने की गरज से बाहर चला आया था।"

"मेरे रूमाल में बँधे हुए कागजात तुम्हीं ने लिये हैं?"

नीलकंठ ने निहायत भले-मानुष की तरह कहा, "जी नहीं।"

"झूठे कहीं के! देखो, ठीक नहीं होगा। तुम फ़ौरन मुझे वापस कर दो।"

बनवारी नाहक गर्जन-तर्जन करने लगा। उसका क्या खो गया है सो तो वह बता नहीं सकता, अतएव उस चोरी के माल के बारे में अपनी पूछ-ताछ में कोई ज़ोर न महसूस करके वह मन ही मन असावधान और मूढ़ की तरह मानो अपने को ही छिन्न-विच्छिन्न करने लगा।

कचहरी में इस तरह का पागलपन करके वह फिर बाहर-जाकर चबूतरे पर तलाश करने लगा। मन ही मन अपनी माता की सौगन्ध खाकर उसने प्रण किया कि उन कागजों को बिना फिर से प्राप्त किये चैन नहीं लेगा। किस तरह वह उन्हें प्राप्त करेगा, यह विचार करने लायक शक्ति उसमें उस समय नहीं थी, केवल किसी क्रुद्ध बालक की तरह धरती

पर बार-बार पाँव पटकते हुए वह जोर-जोर से कहने लगा, "वापस पाऊँगा, पाऊँगा, जरूर पाऊँगा।"

आखिर हारकर और थककर वह पेड़ के नीचे जाकर बैठ गया। कोई नहीं—इस संसार में उसका कोई नहीं। और फिर भी दुनिया के साथ उसे अकेले जूझना ही पड़ेगा। उसके लिए किसी भी ओर से न मान है न आदर, न भद्रता है न प्यार कुछ भी नहीं है। यदि है तो केवल मरने और मारने का काम बाकी है।

इसी तरह भीतर छटपटाते हुए जाने कब वह बहुत थककर चबूतरे पर लेट गया और लेटते ही उसकी आँखें लग गईं। जब उठा तब सहसा समझ ही न सका कि वह कहाँ है। अच्छी तरह चेतन होकर उठकर बैठते ही उसने देखा कि सिरहाने के पास हरिदास बैठा है। वह शायद बड़ी देर से वहीं बैठा था। बनवारी को जागते देखकर वह बोल उठा, "बड़े चाचा! तुम्हारा क्या खो गया है?"

बनवारी स्तब्ध रह गया—हरिदास के इस प्रश्न का कोई जवाब देते उससे बना ही नहीं। हरिदास बोला, "अगर मैं ला दूँ तो मुझे क्या दोगे?"

बनवारी ने समझा शायद और कोई चीज होगी। हँसते हुए कहा मेरा जो कुछ है सब तुझे दे दूँगा!" बनवारी जानता था कि उसका कुछ भी नहीं है, इसीसे परिहास करते हुए उसने यही कहा।

तभी हरिदास ने अपने कपड़ों के भीतर से रूमाल से बँधा हुआ वही कागजों का पुलिन्दा बाहर निकाल दिया। इस रंगीन रूमाल पर शेर का चित्र बना था—यह चित्र उसके बड़े चाचा ने उसे कई बार दिखाया था। इस रूमाल के प्रति बच्चे के मन में विशेष आकर्षण था। इसी से आज अग्निकाण्ड की गड़बड़ी में जब नौकर-चाकर बाहर दौड़े जा रहे थे, उस समय बगीचे के इस चम्पेवाले चबूतरे पर दूर से इस रूमाल को देखकर हरिदास ने इसे पहचान लिया था।

बनवारी हरिदास को अपनी छाती से लगाकर चुपचाप बैठा रह

गया। थोड़ी ही देर में उसकी आँखों से आँसू की झड़ी लग गई। उसे एक दिन की घटना याद आई—बहुत दिन हुए वह अपने खरीदकर लाये हुए किसी नये कुत्ते को सबक सिखाने की गरज़ से बार-बार चाबुक मारने के लिये बाध्य हुआ था। एक दिन उसका चाबुक खो गया। बहुत खोजने पर भी नहीं मिला। उसके मिलने की उम्मीद छोड़कर वह एक तरफ जा बैठा, उसी समय कुत्ता न जाने कहाँ से वही चाबुक मुँह में दबाये मालिक के सामने आ पहुँचा। उस दिन से फिर बनवारी कभी किसी कुत्ते को चाबुक न मार पाया।

हरिदास बोला, "मुझे तुम्हारा वही रुमाल चाहिये, बड़े चाचा!"

बनवारी ने कहा, "आ जा हरिदास तुझे कंधे पर बिठा लूँ।"

हरिदास को कंधे पर बिठाकर बनवारी उसी समय अन्दर की ओर चला गया। सोने के कमरे में जाकर उसने देखा कि किरण दिन भर धूप दिखाने के बाद ऊनी कम्बल को बरामदे से समेटकर कमरे में लाकर फर्श पर फैला रही थी। हरिदास को बनवारी के कन्धे पर बैठे हुए देख वह उद्विग्न होकर बोली, "उतारो उसे, उतारो, तुम कहीं गिरा न दो!"

बनवारी ने किरण की ओर दृष्टि जमाते हुए शान्त भाव से कहा, "अब मुझसे डरने की जरूरत नहीं, मैं उसे गिराऊँगा नहीं!"

यह कहते हुए उसने हरिदास को कन्धे से उतारकर किरण की गोद की ओर बढ़ा दिया। फिर उन कागजों को निकालकर किरण के हाथों में देते हुए कहा, "यह सब हरिदास के हैं। जायदाद से सम्बन्ध रखनेवाले जरूरी दस्तावेज वगैरह हैं। इन्हें सँभाल कर रख लो।"

किरण ने हैरान होकर पूछा, "तुम्हें कहाँ मिले?"

बनवारी बोला, "मैंने चुराये थे।"

इसके बाद हरिदास को छाती से चिपटाकर कहा, "यह ले बेटा, अपने बड़े चाचा की जिस परम मूल्यवान सम्पदा पर तेरा मन ललचा है उसे ले ले।" यह कहते हुए उसने रुमाल हाथों में थमा दिया।

इसके बाद उसने एक बार नजर भरकर किरण की ओर देखा– वह

चिरतन्वी तो अब तन्वी नहीं रही। कब से वह मोटी हो गई थी, इसका उसने ख्याल भी नहीं किया था। इतने दिन बाद उसका चेहरा हालदार-परिवार की उपयुक्त बड़ी बहू जैसा भर आया था। अब और क्या चाहिये ! अब तो अमरुक-शतक की कविताओं को भी बाकी सारी सम्पत्ति के साथ विसर्जित कर देना ही अच्छा है।

उस रात के बाद फिर कभी किसी ने बनवारी को नहीं देखा। केवल इस आशय की एक लकीर की चिट्ठी भर वह छोड़ गया था कि नौकरी की तलाश में वह कहीं बाहर जा रहा है।

बाप के श्राद्ध तक भी उससे नहीं रुका गया ! केवल यही कहकर लोग उसे धिक्कारने लगे।

हेमन्ती

लड़की के पिता के लिए धीरज रखना थोड़ा-बहुत संभव भी था, लेकिन लड़के के पिता सब्र के लिए जरा भी राजी नहीं थे। उन्होंने समझ लिया था कि लड़की के विवाह की उम्र पार हो चुकी है, लेकिन अगर कुछ दिन और बीते तो इस बात को भद्र या अभद्र किसी भी उपाय से छिपा कर रखने का अवसर भी बीत जायगा। लड़की की उम्र बिलकुल अबाध गति से बढ़ रही थी, यह सच है, किन्तु इससे भी बड़ा सत्य यह था कि उसकी तुलना में दहेज की रकम अब भी काफी भारी था। वर के पिता भी इसीलिए उत्साह के साथ जल्दी मचा रहे थे।

मैं ठहरा वर, इसलिए शादी के मामले में मेरा मत जानना बिलकुल ही व्यर्थ समझा गया। अपना कर्तव्य निभाने में मैंने भी कोई कसर बाकी नहीं रखी, अर्थात् इन्टर पास करके छात्र-वृत्ति पा ली। इसका फल यह हुआ कि मेरे सम्बन्ध में दोनों ही पक्ष तरह-तरह से उतावली मचाने लगे।

हमारे देश में जो मनुष्य एक बार विवाह कर चुकता है उसके मन में अगली बार विवाह के विषय में विशेष उद्वेग नहीं होता। एक बार नरमांस का स्वाद पा लेने पर मनुष्य के प्रति बाघ की जो मनोदशा होती है, स्त्री के सम्बन्ध में बहुत-कुछ वैसी ही अवस्था एक बार विवाह कर चुकने वाले व्यक्ति के मन में भी होती है। एक बार स्त्री का अभाव हुआ नहीं कि फिर सबसे बड़ी बात उस अभाव को भरने की ही सामने हुआ करती है, और फिर इस विषय में उसका चित्त दुविधा नहीं करता कि भावी पत्नी की उम्र और अवस्था कैसी है। लेकिन देखता हूँ कि सारी दुविधा और दुश्चिन्ता का ठेका हमारे आजकल के लड़कों ने ले रखा

है। बार-बार विवाह का प्रस्ताव पेश होने पर उनके पिता पक्ष के सफेद बाल खिजाब के आशीर्वाद से बार-बार काले हो उठते हैं, और उधर बातचीत के प्रथम सूत्रपात की आँच से ही लड़कों के काले बाल मारे चिन्ता के रात ही भर में पक जाने का उपक्रम करते हैं।

आप विश्वास रखिये, मेरे मन में ऐसा कोई विषम् उद्वेग नहीं हुआ। बल्कि विवाह के प्रस्ताव से मेरे मन में वसन्त का मलय पवन बढ़ने लगा, कौतूहलपूर्ण कल्पना की नवीन कोपलों के बीच मानो कुछ काना-फूसी-सी शुरू हो गई। जिस छात्र को इडमन्ड वर्क के फ्रांसी-सी विप्लव की टीकाओं के पाँच-सात पोथे जबानी घोटने पड़ते हों, उसके मन में इस तरह के भावों का उठना अनुचित ही समझा जायगा।

लेकिन यह मैं क्या शुरू कर बैठा! यह क्या कोई ऐसा किस्सा है, जिसे लेकर उपन्यास गढ़ा जाय? मेरा यह लिखना इस गति से शुरू हो जायगा यह तो मैंने कभी सोचा ही न था। बड़ी साध थी कि वेदना के जो काले बादल पिछले कई वर्षों से मन में घुमड़ रहे हैं उन्हें किसी बैशाखी सन्ध्या की तूफानी वर्षा के साथ बिलकुल निःशेष कर दूँगा। लेकिन न तो बच्चों की कोई पाठ्य-पुस्तक ही लिखते बनी, क्योंकि संस्कृति का 'मुग्धबोध व्याकरण' मेरा पढ़ा हुआ नहीं था और न काव्य-रचना ही हो सकी, क्योंकि मातृ भाषा मेरे जमाने में ऐसी फूली-फली नहीं थी कि उसके द्वारा मैं अपने अन्तर के भावों को प्रकट कर पाता। इसीलिए देख रहा हूँ कि मेरे भीतर का श्मसानचारी संन्यासी आज अपने अट्टहास से अपना ही परिहास करने बैठा है और करे भी तो क्या, उसके आँसू जो सूख गये हैं। जेष्ठ मास की तपती हुई तीखी धूप वास्तव में जेष्ठ की अश्रुहीन रुलाई ही तो है!

जिसके साथ मेरा विवाह हुआ था उसका असली नाम नहीं बताऊँगा। जिस ताम्रपत्र पर उसका नाम खुदा हुआ है वह मेरा हृदय-पट ही है। वह पट और वह नाम कभी भी विलुप्त होगा यह बात मेरी कल्पना के बाहर है। जिस अमृत-लोक में वह अक्षय बना हुआ है, वहाँ

इतिहासकारों का आना-जाना नहीं होता। लेकिन फिर भी मेरे इस लेख में उसका कोई नाम तो चाहिये ही। अच्छा मान लीजिये उसका नाम शबनम था, क्योंकि इसमें मुस्कान और रुदन दोनों घुलमिल कर एक हो जाते हैं।

वह मुझसे सिर्फ दो ही वर्ष छोटी थी। मेरे पिता "गौरीदान" के पक्षपाती न हों सो भी नहीं था और उसके पिता बड़े जबरदस्त समाज-विद्रोही थे, देश में प्रचलित किसी भी धर्म-कर्म के विरुद्ध उनमें श्रद्धा न थी। उन्होंने खूब कसकर अंग्रेजी पढ़ी थी। लेकिन मेरे पिता बड़े उग्र भाव से समाज के अनुगामी थे। इसका भी कारण यही था कि उन्होंने भी कस कर अंग्रेजी पढ़ी थी। मेरे पितामह और पिता जी के विभिन्न मत मानों विद्रोह की दो विभिन्न मूर्तियाँ थीं। कोई भी सरल स्वाभाविक नहीं था। फिर भी बड़ी उम्र की लड़की के साथ मेरा विवाह करना पिताजी ने इसलिए मंजूर कर लिया कि लड़की की इस बड़ी उम्र की मुट्ठी में दहेज की रकम भी बहुत बड़ी थी। वह मेरे श्वसुर की एक मात्र संतान थी। पिताजी को दृढ़ विश्वास था कि कन्या के पिता का सारा धन भावी जामाता का ही घर भरेगा। मेरे श्वसुर पश्चिम की किसी पहाड़ी रियासत के किसी राजा के यहाँ किसी बड़े ओहदे पर काम करते थे। जब शबनम गोद में थी तभी उसकी माँ नहीं रही। इस बात की ओर पिता का ध्यान ही नहीं गया कि लड़की प्रतिवर्ष बड़ी होती जा रही है। वहाँ उनके समाज का ऐसा कोई ठेकेदार नहीं था जो उनकी आँख में ऊँगली डालकर इस परम तथ्य को देखने के लिए उन्हें विवश कर देता।

लड़की ने यथासमय उम्र के सोलह वर्ष पूरे किये, लेकिन वे स्वाभाविक सोलह वर्ष थे, सामाजिक नहीं। किसी ने उसे अपनी उम्र के प्रति सचेत होने की सलाह नहीं दी और उसने भी कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया। मैंने उन्नीसवें साल में कालेज के तृतीय वर्ष में पाँव रखा। ठीक तभी मेरा विवाह हो गया। समाज या समाज-सुधारक के मत से यह

उम्र विवाह के उपयुक्त है या नहीं इस विषय में दोनों पक्ष चाहे जितना झगड़ा करें लेकिन मैं तो नम्रतापूर्वक यही कहना चाहता हूँ कि जिस तरह यह उम्र इम्तिहान पास करने के लिये उपयुक्त है विवाह के लिए भी उससे किसी हालत में कम नहीं है।

विवाह का अरुणोदय एक तस्वीर के अभाव से हुआ। उस दिन मैं अपनी पढ़ाई-लिखाई में सिर गड़ाये बैठा था कि मेरे साथ मजाक का रिश्ता रखने वाली किन्हीं आत्मीया ने मेरे सामने मेज पर शबनम का चित्र लाकर रख दिया और कहा, "लो, अब झूठमूठ की पढ़ाई बन्द करके सचमुच की पढ़ाई करो! चित्र किसी अनाड़ी कारीगर का खींचा हुआ था। लड़की की माँ नहीं थी इसलिए उसके बालों को बाँध-सँवार कर और जूड़े में जरी गूँथकर कलकत्ते की किसी मशहूर साहा या मल्लिक कम्पनी की बिना फबती हुई जैकेट पहनाकर वर पक्ष की आँखों में धूल झोंकने की कोशिश नहीं की गई थी। केवल एक सीधा-साधा-सा भरा हुआ चेहरा, सीधी-साधी आँखें और वैसी ही सीधी-साधी साड़ी। फिर भी न मालूम क्यों कोई अपूर्व महिमा उसे घेरे हुए थी। किसी चौकी पर वह बैठी हुई थी। पीछे पर्दे की तरह एक धारीदार शतरंजी झूल रही थी। पास में ही एक तिपाई पर फूलदान में फूलों के गुच्छे दीख रहे थे, कालीन पर साड़ी की तिरछी किनार से किंचित अनावृत दो खाली पाँव। कागज की उस छवि को जैसे ही मेरे मन के जादू का स्पर्श मिला कि वह मेरे जीवन में जाग उठी। वे दोनों काली आँखें जैसे मेरी सारी चिन्ता को चीर कर मुझपर न जाने कैसे अद्भुत भाव से स्थिर हो गईं और उस तिरछी किनार के नीचे से झाँकने वाले दोनों चरणों ने मेरे हृदय के पद्मासन पर बरबस अपना स्थान बना लिया।

पंचांग की तिथियाँ आती और जाती रहीं। विवाह के दो-तीन लग्न भी बीत गये, लेकिन मेरे श्वसुर को छुट्टी मिलने का नाम भी नहीं। इधर अ-काल मेरी इतनी बड़ी अविवाहित वय को व्यर्थ ही उन्नीसवें से बीसवें

वर्ष की ओर धकेलने का षड्यंत्र रच रहा था। मुझे श्वसुर और उनके अधिकारियों पर खीज होने लगी।

खैर जो हो, विवाह का दिन ठीक अ-काल के पूर्वलग्न पर ही आकर पड़ा। उस रोज की शहनाई की हर तान मुझे आज तक याद है। उस दिन के प्रत्येक मुहूर्त को मैंने अपने समग्र चैतन्य से छुआ था। उन्नीस वर्ष की वह उम्र मेरे जीवन में अक्षय रहे!

विवाह-मण्डप में चारों ओर शोरगुल मचा हुआ था। उसी के बीच कन्या का कोमल हाथ मैंने अपने हाथों में पाया। मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत हुआ कि यही मेरे जीवन की एक परम् आश्चर्यजनक घटना है। मेरे मन ने बार-बार यही कहा—इसे मैंने पाया है, उपलब्ध किया है लेकिन किसे? यह तो दुर्लभ है—यह मानवीय है, भला इसके रहस्य का ओर-छोर भी कभी पाया जा सकता है!

मेरे श्वसुर का नाम गौरीशंकर था। जिस हिमाचल प्रदेश में उनका कर्म स्थान था उसी हिमाचल के मानों वे सगोत्र थे। उनके हृदय के स्नेह-स्रोत का स्थान जिसने भी एक बार पाया उसने फिर कभी उन्हें छोड़ना नहीं चाहा।

काम पर लौटने से पूर्व उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, "बेटा, अपनी बच्ची को तो मैं सत्रह वर्ष से जानता हूँ और तुम्हें इन पिछले कुछ दिनों से। फिर भी सौंपा तो उसे तुम्हारे ही हाथों में है। जो धन तुमने आज पाया, किसी दिन उसका सही मूल्य पहचान सको इससे बड़ा आशीर्वाद मेरे पास नहीं है।"

समधी-समधिन ने उन्हें बार-बार आश्वस्त करते हुए कहा, "आप कोई चिन्ता न कीजिये। आपकी बेटी जैसे पिता को छोड़कर आई है वैसे ही उसने यहाँ अपने माता-पिता दोनों पाये हैं—आप यही समझिये।"

अन्त में घर रहते हुए जिन विषयों पर अक्सर ही तूल खड़ा हो जाता था उनमें बेटी ने अपने पिता को बार-बार सावधान किया। भोजन के

मामले में अनियम की उन्हें खासी आदत थी। कुछ विशेष प्रकार के अपथ्य भोज्यों पर उनका विशेष आकर्षण था। पिता को इन सारे प्रलोभनों से यथासंभव दूर रखना बेटी का एक खास काम था। इसीलिए आज वह उद्विग्न होकर और उनका हाथ थाम कर बोली, "बाबूजी, मेरी एक बात रखोगे ?"

पिता ने हँसकर उत्तर दिया, "बेटी, आदमी इसीलिए प्रतिज्ञा करता है कि एक दिन उसे तोड़ कर चैन की साँस ले सके। इसलिये प्रतिज्ञा न करना ही ज्यादा अच्छा है।"

पिता के चले जाने पर बेटी ने कमरे का द्वार बन्द कर लिया। बाद की घटना अन्तर्यामी ही जानते होंगे। बाप-बेटी की इस अश्रुविहीन विदाई का दृश्य पास के कमरे से चिर कौतूहलपूर्ण अन्तःपुरिकाओं ने ही देखा और टिप्पणी की, "कैसी अजीब बात है! रूखे-सूखे देश में रहते-रहते इन लोगों के दिल भी सूखकर काठ हो गये हैं। माया-ममता का लेश भी नहीं रह गया है।"

मेरे श्वसुर के मित्र वनमाली बाबू ने हमारी बातचीत पक्की की थी। वे हम लोगों के घराने से भी खूब परिचित थे। उन्होंने मेरे श्वसुर से कहा, "लड़की को छोड़कर तो दुनिया में तुम्हारा कोई है ही नहीं। यहीं इनके नजदीक ही कोई मकान लेकर जिन्दगी के बाकी दिन भी निकाल डालो।"

लेकिन उन्हें उत्तर मिला, "जब एक बार दे ही दिया है तो फिर लौट-लौटकर ताकने से जी को पीड़ा ही होगी। जिस अधिकार को एक बार त्याग चुका उसे बनाये रखने की बार-बार कोशिश से बढ़कर विडंबना और क्या होगी!"

अन्त में मुझे अकेले में ले जाकर किसी अपराध की तरह दुविधा करते हुये बोले, "बिटिया को किताब पढ़ने का बड़ा शौक है और लोगों को खिलाते-पिलाते उसे बहुत भला लगता है। लेकिन उसके लिए समधी

जी को परेशान करना अच्छा नहीं लगता। अगर बीच-बीच में तुम्हें कुछ रुपये भेज दिया करूँ तो वे नाराज़ तो नहीं होंगे ?"

सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि जीवन में कभी भी किसी भी तरफ से अर्थ की प्राप्ति होने पर पिताजी नाराज हुए हों ऐसा तो मैंने कभी नहीं पाया था। खैर जो हो, मेरे श्वसुर मानो मुझे रिश्वत दे रहे हों, कुछ इसी भाव से मेरे हाथ में सौ रुपये का नोट थमा कर वे जल्दी से वहाँ से चल दिये। मैंने देखा कि इस बार उनके लिए जेब से रूमाल निकालने की बारी आ पहुँची, आँखें कुछ गीली हो आई। स्तब्ध होकर मैं विचारों में खो गया, मैंने अनुभव किया कि यह लोग बिल्कुल दूसरी ही तरह के मनुष्य हैं।

अपने मित्रों में कई को मैंने विवाह करते देखा है। वे तो जैसे विवाह मन्त्रों के उच्चारण के साथ-साथ स्त्री को भी एकबारगी गले से नीचे उतार लिया करते हैं। पाचन-यन्त्र तक पहुँचने के थोड़ी ही देर बाद वह पदार्थ अपने नाना गुण-अवगुण प्रकट करता है और इसके परिणामस्वरूप भीतर चिन्ताजनक हलचल शुरू हो सकती है। लेकिन वह सब बाद में होता रहे, पहले तो निगलने के मार्ग में इससे कोई रुकावट नहीं पड़ती।

लेकिन मैंने विवाह-मण्डप में ही भली भाँति समझ लिया था कि पाणिग्रहण के मन्त्र द्वारा जिसे पाया जाता है, उससे घर गिरस्ती तो चल जाती है, लेकिन प्राप्य का पन्द्रह आना बाकी ही रह जाता है। मुझे शक है कि दुनिया के अधिकांश व्यक्ति स्त्री को ठीक-ठीक पाते हैं। वे स्त्री को ब्याह कर ले आते हैं, लेकिन उपलब्ध नहीं करते—और न कभी जान ही पाते हैं कि उन्होंने कुछ भी नहीं पाया। उनकी स्त्रियाँ भी मृत्युकाल तक इस सत्य से अवगत नहीं हो पातीं। किन्तु मैंने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि वह मेरी साधना का धन है, वह सम्पत्ति नहीं, सम्पदा है।

शबनम...नहीं, इस नाम से काम नहीं चलेगा। एक तो यह उसका वास्तविक नाम नहीं, और न यह उसका यथार्थ परिचय ही है। वह तो

सूर्य की तरह ध्रुव है, क्षणकालीन ऊषा की विदावेला के आँसुओं की बूँद नहीं है। नाम को छिपाकर ही आखिर क्या होगा। उसका असली नाम था हेमन्ती !

मैंने देखा, सत्रह वर्ष की इस लड़की पर यौवन का सारा आलोक बिखरा हुआ है। तब भी किशोरावस्था की गोद से वह अब तक जागी नहीं है। पर्वत के बर्फानी शिखर पर सुबह का उजाला तो झलक उठा है लेकिन हिम अभी तक गल नहीं पाया है। कैसी अकलुष शुभ्र है वह, कैसी पवित्र, यह मैं ही जानता हूँ। मेरे मन में बराबर यह खटका लगा हुआ था कि इतनी बड़ी पढ़ी-लिखी लड़की का मन मालूम नहीं कैसे मिला पाऊँगा। लेकिन कुछ ही दिनों में मैंने जान लिया कि उसके मन की राह और पढ़ाई-लिखाई की राह आपस में कहीं कटी नहीं है। कब उसके सहज शुभ्र मन पर हलकी-सी रंगीनी दौड़ गई, आँखों से अलस तन्द्रा छाई और देह-मन मानो उत्सुक हो उठे, यह स्थिर रूप से कह पाना मेरे लिए कठिन है।

यह तो हुई एक पक्ष की बात, किन्तु दूसरा पक्ष भी है, और उसके बारे में विस्तृत रूप से कहने का समय अब आ पहुँचा है।

मेरे श्वसुर राज-दरबार में काम करते थे। अतएव उनका कितना धन बैंक में जमा है, इस सम्बन्ध में जनश्रुति ने बहुत तरह के अनुमान लगा रखे थे। इनमें से कोई भी संख्या लाख के आँकड़ों से नीचे नहीं पड़ती थी। फलस्वरूप एक तरफ पिता के प्रति सम्मान बढ़ता गया तो दूसरी ओर बेटी के प्रति दुलार। हमारी घर-गिरस्ती का काम-धन्धा और तौर-तरीका सीखने के लिए वह बराबर उत्सुक थी, लेकिन माँ ने उसे लाड़ के मारे किसी काम में हाथ भी नहीं लगाने दिया। यहाँ तक कि घर से हेम के साथ जो पहाड़ी महरी आई थी, उसे उन्होंने यद्यपि अपने कमरे में नहीं घुसने दिया, फिर भी उसकी जात-पाँत के बारे में कोई बात नहीं उठायी। वे डरती थीं कि जाँच-पड़ताल करने पर कहीं कोई अप्रिय सत्य न सुनना पड़े।

दिन इसी तरह कट जाते लेकिन एक दिन पिताजी का मुँह घोर मेघाच्छन्न दिखाई दिया। बात यह थी कि मेरे विवाह में श्वसुर ने पन्द्रह हजार रुपये नकद और पाँच हजार के जेवर दिये थे। इधर पिताजी को अपने किसी दलाल-मित्र की कृपा से पता चला है कि यह समूची रकम कर्ज करके जुटाई गई थी, जिसका ब्याज भी कुछ मामूली नहीं था। और लाख रुपये की अफवाह तो बिल्कुल उड़ायी हुई ही थी।

यद्यपि मेरे विवाह के पूर्व श्वसुर की सम्पत्ति के परिमाण के विषय में पिताजी ने कभी उनसे कोई बात नहीं कही थी, तब भी जाने किस तर्क से आज उन्होंने बिल्कुल पक्का ठहरा लिया कि उनके समधी-महाशय ने उनके साथ जानबूझकर धोखे का खेल खेला है। इसके अतिरिक्त पिताजी की यह भी धारणा थी कि मेरे श्वसुर राजा के प्रधानमन्त्री अथवा इसी प्रकार के किसी पद पर प्रतिष्ठित हैं। बाद में पता लगा कि वे वहाँ के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष हैं। पिताजी ने टीका की—अर्थात् स्कूल के हेडमास्टर, दुनियाँ में जितने भद्र पद हैं उनमें सबसे ऊँचा पद! पिताजी ने बड़ी-बड़ी उम्मीदें बाँध रखी थीं कि आज नहीं तो कल, श्वसुर के अवकाश ग्रहण करने पर राजमन्त्री के पद को वे स्वयं सुशोभित करेंगे।

इन्हीं दिनों कातिक महीने में रासलीला के उपलक्ष में हमारे देश का सारा कुनबा कलकत्ते वाले घर में आ जुटा। कन्या को देखते ही उनमें एक छोर से दूसरे छोर तक कानाफूसी की लहर दौड़ गई। क्रमशः वह अस्फुट हुई। दूर के रिश्ते की किसी नानी ने फरमाया, "आग लगे मेरे नसीब को! बहू ने तो उम्र में मुझे भी हरा दिया।"

सुनकर नानी-श्रेणी की और भी कोई बूढ़ा बोल उठीं, "अरे हमें अगर न हराएगी तो हमारा लड़का परदेश से बहू लाने ही क्यों जायगा?"

माँ ने नाराज होकर जवाब दिया, "मैया रे, भला यह कैसी बात हुई! बहू ने अभी ग्यारह पूरे नहीं किए—यही अगले फागुन में बारह में

पाँव धरेगी। पछुहुओं के देश में दाल-रोटी खा-खाकर बड़ी हुई है न सो देह जरा ज्यादा सँभल गई है।"

नानियों ने शान्त अविश्वास के साथ कहा, "सो बिटिया, इतनी कमजोर तो हमारी नजर अब भी नहीं हुई है। हमारे जान लड़की वालों ने जरूर उमर कुछ दबाकर बताई है।"

माँ बोली, "हम लोगों ने जन्म-पत्री देखी है।"

"बात सच है, लेकिन जन्मपत्री से ही तो प्रमाणित होता है कि लड़की की अवस्था सत्रह वर्ष है।"

बूढ़ी-बूढ़ी बोलीं, "सो जन्मपत्री में क्या धोखा-धड़ी चलती नहीं ?" इस बात पर जोरदार बहस छिड़ गई। यहाँ तक कि तकरार की नौबत आ पहुँची। उसी समय वहाँ हेम आ पहुँची।

किन्हीं नानी ने उसी से पूछा, "बहूरानी तुम्हारी उम्र क्या है, बताओ तो भला ?"

माँ ने आँखों से इशारा किया, लेकिन हेम उसका मतलब नहीं समझी, बोली, "सत्रह।"

माँ बेचैन होकर कह उठीं, "तुम्हें मालूम नहीं है ?"

हेम बोली, "मालूम है, मेरी उम्र सत्रह साल है।"

नानियों ने गुपचुप एक-दूसरे के हाथ दबाए। बहू की मूर्खता पर खीझ कर माँ बोली, "तुम्हें तो सब कुछ मालूम है! तुम्हारे बाबूजी ने हमसे खुद कहा है कि तुम्हारी उमर ग्यारह है।"

सुनकर हेम चौंक उठी, बोली, "बाबूजी ने! कभी नहीं।"

माँ बोली, "तुमने तो हैरान कर दिया! समधी खुद मेरे सामने कह गये और बिटिया कहती है कभी नहीं!" यह कहकर माँ ने आँख से फिर एक बार इशारा किया। इस बार हेम इशारा समझ गई। किन्तु उसने स्वर को और भी दृढ़ करके कहा, "बाबूजी ऐसी बात कभी कह ही नहीं सकते।"

माँ ने आवाज को जरा दबाकर कहा, "तू मुझे झूठा ठहराना चाहती है ?"

हेम ने कहा, "बाबूजी तो कभी झूठ नहीं बोलते ।"

इसके बाद माँ जितना ही बकने-झकने लगीं, बात की कालिमा उतनी ही बढ़ने लगी। माँ ने नाराज होकर पिता जी के निकट अपनी पतोहू की मूढ़ता और उससे भी अधिक उसकी जिद्द की शिकायत कर दी। पिताजी ने हेम को बुलाकर धमकाते हुये कहा, "इतनी बड़ी अनब्याही लड़की की उम्र सत्रह साल थी यह क्या कोई बड़प्पन की बात है जो तुम उसका ढिंढोरा पीटना चाहती हो। कहे देता हूँ, हमारे घर में यह सब नहीं चलेगा।" हाय रे दुर्भाग्य ! बहूरानी के प्रति पिताजी का वह सदा का मधुसिक्त पंचम स्वर इस समय उस्ताद बाज़खाँ के घोर षड्ज तक कैसे उतर आया !

हेम ने व्यथित होकर पूछा, "अगर कोई उम्र जानना चाहे तो क्या बताऊँ ?"

पिताजी बोले, "झूठ बोलने की जरूरत नहीं है। कह दिया करो मुझे नहीं मालूम, मेरी सास जानती हैं।" इसके बाद झूठ को किस तरह बचाया जा सकता है इसका उपदेश सुनने के बाद हेम कुछ इस तरह खामोश हो गई कि पिताजी के लिए समझना बाकी न रहा कि उनका सारा सदुपदेश उल्टे घड़े पर पानी की तरह पड़ा है।

हेम की दुर्गति पर दुख क्या प्रकट करूँ, उसके आगे तो मेरा सिर ही नीचा हो गया। मैंने देखा, शारदीय प्रभात के आकाश की तरह उसकी आँखों की वह सरल उदार दृष्टि मानो किसी संशय की छाया से म्लान हो उठी।

उस दिन मैं एक बड़ी सुन्दर जिल्दबँधी हुई अंग्रेजी कविता की पुस्तक उसके लिए खरीद कर लेता आया। उसने किताब अपने हाथ में थामी, फिर धीमे-से गोद में रख छोड़ी, एक बार भी खोलकर उसे नहीं देखा। मैंने उसका हाथ अपने हाथों में लेकर कहा, "हेम, मुझ पर नाराज न

होना, मैं तो तुम्हारे सत्य के बँधन में बँधा हुआ हूँ।" सुनकर वह कुछ न बोली, केवल तनिक-सा हँस दी। विधाता ने वैसी हँसी जिसे दी है उसे और कुछ भी कहने की जरूरत ही कहाँ ?

इधर पिता जी की आर्थिक उन्नति के बाद कुछ दिनों विधाता के उस अनुग्रह को चिरस्थायी कर रखने की गरज से हमारे यहाँ नये उत्साह से पूजा-पाठ चल रहा था। आज तक पूजा-अर्चना में घर की बहू की कभी बुलाहट नहीं हुई। आज अचानक नई बहू को पूजा का थाल सजाने का आदेश मिला। वह बोली, "माँ मुझे समझा दो, कैसे-क्या करना होगा ?"

प्रश्न कुछ ऐसा न था जिसे सुनकर किसी के सिर आसमान टूट पड़ता, क्योंकि यह तो सब लोग भली भाँति जानते थे कि मातृहीन लड़की प्रवास में रहकर ही बड़ी हुई है, फिर भी इस आदेश का आशय तो केवल हेम को लज्जित करना ही था। सबने गाल पर हाथ रखकर कहा, "हाय रे, भला यह कैसी बात है! आखिर किस नास्तिक के घर की लड़की है यह ? ऊँ हूँ, घर की लक्ष्मी अब इस गिरस्ती से बिदा होने वाली हैं—देरी मत समझना !" और इसी प्रसंग में हेम के पिता को लक्ष्य करके जाने कितनी अकथनीय बातें कही गईं। कटूक्तियों की हवा जब से बहना शुरू हुई थी, तब से आज तक हेम बराबर चुप रहकर बर्दाश्त करती आ रही थी, कभी पल भर के लिए भी उसने किसी के सामने आँखें नहीं छलकाईं। लेकिन आज तो उसके बड़े-बड़े नेत्रों को प्लावित करती हुई आँसुओं की झड़ी-सी लग गई। वह खड़ी होकर बोल उठी, "आपको मालूम है, वहाँ मेरे बाबूजी को सब लोग ऋषि मानते हैं।"

यह सुनकर सब लोग जी भर कर हँसे। इस घटना के बाद जब उसके पिता का उल्लेख करना होता तो सब लोग यही कहते "तुम्हारे ऋषि-पिता"। इस लड़की की सब से मर्म की जगह कौन-सी है, इसे हमारे यहाँ सबने अच्छी तरह जाँच लिया था। दरअसल मेरे श्वसुर ब्राह्म भी नहीं थे, क्रिस्तान भी नहीं, और सम्भवतः नास्तिक भी नहीं थे। पूजा-पाठ की बात कभी उनके ध्यान में ही नहीं आई। लड़की को

उन्होंने बहुत पढ़ाया था, सुनाया था, किन्तु भगवान् के सम्बन्ध में कभी कोई उपदेश नहीं दिया। इसी सिलसिले में वनमाली बाबू के एक बार पूछने पर उन्होंने इतना ही कहा था, "जिस विषय को मैं स्वयं नहीं जानता, उसे सिखलाना केवल कपट होगा।"

अन्तःपुर में हेम की एक अच्छी प्रशंसक थी—मेरी छोटी बहिन नारायणी वह अपनी भाभी को प्यार करती थी, और इसके लिए उसे काफी लाँछना सहनी पड़ती थी। घर में हेम के अपमान की कहानी मुझे उसी से सुनने को मिलती थी। हेम के मुँह से कभी किसी दिन कुछ भी सुनने को नहीं मिला। संकोच के मारे वह सब उसके मुँह से कभी निकलता ही न था। संकोच अपने लिए नहीं मेरे लिये था।

पिता के पास से वह जब जो चिट्ठी पाती, मुझे पढ़ने के लिए देती। ये चिट्ठियाँ छोटी होने पर भी रस से भरपूर होतीं। वह स्वयं भी जब उन्हें लिखती तो मुझे जरूर दिखाती। पिता के साथ उसका जो नाता था, उसमें अपने साथ मुझे भी बराबर-बराबर का भागी बनाये बिना उसका दाम्पत्य पूर्ण जो नहीं हो पाता था! उसकी चिट्ठियों में ससुराल के सम्बन्ध में किसी तरह की शिकायत का आभास भी न होता। यदि होता तो खतरे की सम्भावना थी, क्योंकि बहिन से मैंने सुन लिया था कि जाँच के लिये बीच-बीच में उसकी चिट्ठियाँ खोली जाती थीं।

इन चिट्ठियों में उसका कोई कुसूर साबित न होने से ऊपरवालों का मन शान्त हो गया, सो नहीं। बल्कि उम्मीद टूटने का दुःख ही शायद उन्हें टीसा करता था। इसलिए चिढ़कर उन्होंने कहना शुरू किया, "आखिर इतनी जल्दी-जल्दी लिखने की भला कौन-सी जरूरत है। मानों बाप ही सब कुछ हैं—हम लोग क्या कोई नहीं हैं?" और इसी सिलसिले में अप्रिय बातों का ताँता शुरू हो गया। मैंने क्षुब्ध होकर हेम से कहा, "तुम पिताजी को जो चिट्ठियाँ लिखती हो उन्हें और किसी को न देकर मुझे ही दे दिया करो, कालिज जाते समय राह में छोड़ दिया करूँगा।"

चकित होकर हेम ने पूछा, "क्यों?" मैंने लाज के मारे जवाब नहीं

दिया। अब घर में सबसे कहना आरम्भ किया कि उसने लड़के के सिर चढ़ना शुरू किया। बी० ए० की डिगरी अब ताक पर धरी रह जायगी। उस बेचारे का भला दोष ही क्या ?"

सो तो है ही ! दोष अगर किसी का है तो वह हेम का ही हो सकता है। उसकी उम्र सत्रह बरस की है यह उसका पहला दोष है। मैं उसे प्यार करता हूँ, यह भी उसी का दोष है। विधाता का विधान ही ऐसा है, यह भी हेम का एक दोष है।

बी० ए० की डिग्री को परम निर्विकार भाव से मैं चूल्हे में फूँक सकता था, लेकिन हेम के कल्याण के खातिर मैंने प्रण किया कि मैं जरूर पास होऊँगा। दो कारणों से मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर पाने का भरोसा था: एक तो हेम की प्रीति में कुछ ऐसा आकाशव्यापी विस्तार था कि वह मन को संकीर्ण आसक्ति में अटकाकर नहीं रखती थी। उस प्यार के आस-पास कोई बहुत ही स्वास्थ्यकर हवा बहा करती थी। दूसरे, इम्तिहान की किताबें कुछ ऐसी थीं जिन्हें हेम के साथ-साथ पढ़ना असम्भव न था। सो मैं कमर कसकर परीक्षा पास करने के उद्योग में जूझ गया।

एक रोज रविवार को दोपहर में बाहर के कमरे में बैठा हुआ मैं मार्टिनो की आचार-शास्त्रवाली पोथी की खास-खास पंक्तियों के बीच लाल-नीली पेन्सिल का हल चला रहा था कि अचानक सामने की तरफ मेरी नजर जा पड़ी। कमरे के सामने आँगन के उत्तर की तरफ अन्तःपुर को जाने के लिए एक जीना था। इसी बन्द जीने में बाहर की तरफ सींखचेदार खिड़कियाँ थीं। मैंने देखा, हेम उन्हीं से एक खिड़की के पास पच्छिम की तरफ ताकती हुई बैठगुमसुमी है। उस ओर मल्लिकों की बगिया है, जिसमें कचनार का पेड़ गुलाबी फूलों से सिर से पैर तक लदा खड़ा है।

मेरा जी सहसा धक से हुआ, भीतर की लापरवाही का पर्दा मानो तार-तार होकर धरती पर गिर पड़ा। इस भाषाहीन गहरी पीड़ा के रूप को आज तक इतने अस्पष्ट भाव से मैंने नहीं देखा था। खास कुछ भी

नहीं, अपने कमरे से मैं केवल उसके बैठने की भंगिमा देख पा रहा था—गोद में एक हाथ से दूसरे हाथ पर चुपचाप पड़ा था। सिर किंचित पीछे की ओर दीवार के सहारे टिका था और खुले केश बाएँ कन्धे से होकर वक्ष पर झूल आए थे। मेरी छाती में जैसे हाहाकार गरज उठा। मेरा अपना जीवन जो इस तरह लबालब भर उठा था कि कहीं किसी प्रकार की भी कोई शून्यता मैंने आज तक नहीं पायी थी आज अनायास अपने बिल्कुल समीप मैंने किसी बृहत् निराशा का अन्धा गढ़ा देखा। इस तलहीन गह्वर को मैं कैसे और किस चीज से भर सकूँगा! मुझे तो जीवन में कुछ भी त्यागना नहीं पड़ा। न घर न द्वार और न आज तक की कोई आदत ही। किन्तु हेम को तो सभी कुछ पीछे छोड़कर और दूर ठेल कर मेरे पास आना पड़ा है। इसका परिणाम क्या है और कितना है, यह मैंने भली भाँति सोचा भी नहीं।

हमारे घर में अपमान के काँटों की जिस सेज पर वह बैठी है, उस सेज को हमने आपस में बाँट लिया था। उस पीड़ा में हम दोनों एक दूसरे के साथ थे, उसने हमें अलग नहीं किया था। किन्तु पहाड़ों में पली हुई यह गिरिनन्दिनी सत्रह वर्ष की लम्बी अवधि तक अपने बाहरी और भीतरी जीवन में कैसी विशाल मुक्ति के बीच पली है, कैसे निर्मल सत्य और उदार आलोक में उसकी प्रकृति इस तरह ऋजु, शुभ्र और सबल हो उठी है। उस समूचे वैभव से आज हेम का नाता किस तरह निष्ठुर ढंग से तोड़ दिया गया है, इस बात को पूरी तरह आज से पहले कभी मैंने अनुभव ही नहीं किया था। वह तो भीतर ही भीतर पल-पल तिल-तिल करके मृत होती जा रही थी। उसे मैं सब कुछ दे सकता था लेकिन मुक्ति नहीं, मुक्ति मेरे अपने ही अन्तर में कहाँ? इसीलिए कलकत्ते की इस संकरी गली में खिड़की के सीखचों के पीछे से मूक आकाश के साथ उसका मूक मन गुपचुप बात किया करता था। एक दिन अचानक रात को उठकर मैंने देखा, वह बिछौने पर नहीं है! हाथों पर सिर को थाम कर तारों से भरपूर आकाश की ओर मुँह उठाये वह मेरी छाती पर लेटी हुई थी।

मार्टिनों की पुस्तक वहीं पड़ी रही। मैं सोचने लगा कि मेरा कर्त्तव्य क्या है। बचपन से ही पिता जी के साथ मेरे सम्बन्ध में संकोच की सीमा नहीं थी, आमने-सामने खड़े होकर कभी उनसे किसी चीज की दरख्वास्त कर सकने की न तो मेरी आदत ही थी, न हिम्मत ही। लेकिन आज मुझसे रहा नहीं गया। लाज-शर्म को ताक पर धरकर मैं उनसे कह बैठा "उसकी तबियत कुछ अच्छी नहीं है, न हो, एक बार पिता के यहाँ भेज देना अच्छा होगा।"

सुनकर पिताजी तो हतबुद्धि-से रह गये। उनके मन में इस बात का तनिक भी संदेह न रहा कि हेम ने ही मुझमें यह अभूतपूर्व साहस उसकाया है। वे चटपट उठकर अन्तःपुर में गये और हेम से पूछा, "मैं कहूँ, बहू, तुम्हें क्या बीमारी है, बताना तो भला।"

हेम बोली, "कहाँ, बीमारी। बीमारी तो कुछ नहीं है!" पिताजी ने सोचा जवाब बात को छिपाने के लिए है। लेकिन हेम की देह जो प्रतिदिन सूखती जा रही थी, उसे रोजमर्रा देखते रहने के कारण हम लोग समझ भी नहीं पा रहे थे।

एक दिन अचानक बनमाली बाबू न उसे देखा तो चौंक पड़े, बोले, "एं! यह क्या। तेरा चेहरा यह कैसा हो गया है, हेमी! बीमार तो नहीं है?"

हेम ने कहा, "नहीं।"

लेकिन इस घटना के बाद दस दिन के भीतर ही मेरे ससुर आ पहुँचे। अवश्य ही बनमाली बाबू ने हेम की तबीयत की बात उन्हें लिख दी होगी।

विवाह के बाद बाप से विदा लेते समय लड़की ने अपने आँसू रोक लिये थे, किंतु आज जैसे ही उन्होंने उसकी ठोढ़ी छूकर मुँह ऊपर को उठाया कि हेम के आँसुओं ने सब धीरज जैसे एक बारगी भुला दिया। पिता के मुँह से आधी बात भी न निकली—वे इतना भी न पूछ पाये कि तू कैसी है! लड़की के मुख पर उन्होंने कुछ ऐसी बात देखी कि उनकी

छाती टूकटूक हो गई। हेम पिता का हाथ पकड़कर उन्हें सोने के कमरे में लिवा ले गई।

पिता ने पूछा, "बिटिया, मेरे साथ चलेगी ?"

हेम जैसे अनाथ की तरह बोल उठी, "चलूँगी !"

वे बोले, "अच्छी बात है, मैं तैयारी कर लूँ।"

श्वसुर अगर अत्यन्त चिंतित न होते तो इस घर में घुसते ही अनुभव कर लेते कि अब यहाँ उनके वे दिन नहीं रहे। इस तरह अचानक उनके आविर्भाव को पिताजी ने सहसा उपद्रव की तरह देखा और इसी से अच्छी तरह उनके साथ दो बातें भी नहीं कीं। मेरे श्वसुर को भली-भाँति स्मरण था कि उनके समधी महाशय ने कभी बार-बार आश्वासन देकर कहा था कि उनका जब जी चाहे, लड़की को घर ले जा सकते हैं। यह बात वे अपने ख्याल में भी नहीं ला सकते थे कि इस सत्य का कुछ उलटा भी घट सकता है। पिताजी ने तम्बाकू का कश खींचते-खींचते कहा, "समधी, मैं तो कुछ कह नहीं सकता, सो न हो एक दफा घर में..."

अपनी जिम्मेदारी घर के मत्थे मढ़ने का मतलब मेरा समझा हुआ था। मैं समझ गया कि कुछ भी होने-जाने का नहीं, और दरअसल हुआ भी कुछ नहीं। बहूरानी की तबीयत अच्छी नहीं ! हमारे घर पर इतना बड़ा अन्यायसम्मत दोषारोपण !

श्वसुर ने स्वयं ही एक अच्छे डाक्टर को बुलाकर उनसे जाँच करायी। डाक्टर ने कहा, "हवा बदलना निहायत जरूरी है, वरना अचानक कोई कड़ी बीमारी हो सकती है।"

पिताजी हँसकर बोले, "अचानक कड़ी बीमारी तो जिस किसी को भी हो सकती है। यह भी भला कोई बात हुई।"

श्वसुर ने कहना चाहा, "आप तो जानते ही हैं, ये शहर के मशहूर डाक्टर हैं, उनकी बात क्या इस तरह....."

पिताजी ने बात काटकर कहा, "ऐसे बहुत डाक्टर देखे हैं। दक्षिणा

के बल पर हर पंडित से हर तरह का विधान पाया जा सकता है और हर डाक्टर से हर बीमारी का सार्टिफ़िकेट भी मिल जाता है !"

यह सुनकर श्वसुर तो बिल्कुल स्तब्ध हो गये। हेम समझ गई कि उसके पिता का प्रस्ताव बेइज्जती के साथ रद्द कर किया गया। उसका मन सूखकर लकड़ी हो गया। मुझसे अब और नहीं सहा गया। मैंने पिताजी के पास जाकर कहा, "हेम को मैं ले जाऊँगा।"

पिताजी दहाड़ उठे, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं !"...इत्यादि इत्यादि।

मेरे साथियों में किसी-किसी ने मुझसे पूछा है कि जो कुछ मैंने कहा, उसे करके क्यों नहीं दिखाया ? स्त्री को लेकर जबर्दस्ती घर से बाहर हुआ ही जा सकता था। तब फिर निकल ही क्यों नहीं गया ?—यदि लोकधर्म के निकट सत्यधर्म को मैंने निछावर न कर दिया होता, घर के व्यक्ति की ही घर के पैरों-तले बलि न दी होती, तो इतने दिनों से अपने रक्त में बहने वाली परंपरागत शिक्षा ही भला मैंने किसलिये पाई थी ? आपको मालूम होना चाहिए कि जिस दिन अयोध्यावासियों ने सीता को निर्वासित करने की माँग पेश की थी, उस दिन उनमें से मैं भी एक था। और निर्वासन की गौरवगाथा जो लोग युगों-युगों से गाते आ रहे हैं, उनमें से भी एक मैं हूँ। और फिर मैंने ही तो अभी उस रोज लोक रञ्ज-नार्थ पत्नी-परित्याग की महिमा का बखान करते हुए एक मासिक पत्रिका में निबन्ध लिखा था। किन्तु यह कौन जानता था कि हृदय के रक्त से मुझे किसी दिन द्वितीय सीता-निर्वासन की कहानी भी लिखनी पड़ेगी।

पिता-पुत्री की विदा का मुहूर्त एक बार फिर आ पहुँचा। इस बार भी दोनों के मुँह पर हँसी खेल रही थी। बेटी ने हँसते-हँसते भर्त्सना के स्वर में कहा, "बाबूजी, अगर फिर कभी तुमने मुझे देखने के लिए पागल की तरह बेतहाशा दौड़ते हुए इस घर में पाँव रखा तो मैं दरवाजे बन्द कर लूँगी !"

पिता ने भी हँसते-हँसते ही कहा, "अगर फिर कभी आया तो साथ में सेंध लगाने के औजार भी लेता आऊँगा !" इसके बाद हेम

के ओंठों पर हमेशा रहनेवाली वह स्निग्ध हँसी फिर कभी देखने को नहीं मिली ।

फिर क्या हुआ सो मुझसे कहा नहीं जायगा ।

सुनता हूँ, माँ फिर उपयुक्त पात्री की तलाश में हैं । शायद किसी दिन माँ के अनुरोध की अवहेलना मुझसे न हो सके—यही खूब संभव है ! क्योंकि...ख़ैर, छोड़िये भी उन बातों को कहकर ही क्या होगा ।

के बल पर हर पंडित से हर तरह का विधान पाया जा सकता है और हर डाक्टर से हर बीमारी का सार्टिफ़िकेट भी मिल जाता है !"

यह सुनकर श्वसुर तो बिल्कुल स्तब्ध हो गये। हेम समझ गई कि उसके पिता का प्रस्ताव बेइज्जती के साथ रद्द कर किया गया। उसका मन सूखकर लकड़ी हो गया। मुझसे अब और नहीं सहा गया। मैंने पिताजी के पास जाकर कहा, "हेम को मैं ले जाऊँगा।"

पिताजी दहाड़ उठे, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं !"...इत्यादि इत्यादि।

मेरे साथियों में किसी-किसी ने मुझसे पूछा है कि जो कुछ मैंने कहा, उसे करके क्यों नहीं दिखाया ? स्त्री को लेकर जबर्दस्ती घर से बाहर हुआ ही जा सकता था। तब फिर निकल ही क्यों नहीं गया ?—यदि लोकधर्म के निकट सत्यधर्म को मैंने निछावर न कर दिया होता, घर के व्यक्ति की ही घर के पैरों-तले बलि न दी होती, तो इतने दिनों से अपने रक्त में बहने वाली परंपरागत शिक्षा ही भला मैंने किसलिये पाई थी ? आपको मालूम होना चाहिए कि जिस दिन अयोध्यावासियों ने सीता को निर्वासित करने की माँग पेश की थी, उस दिन उनमें से मैं भी एक था। और निर्वासन की गौरवगाथा जो लोग युगों-युगों से गाते आ रहे हैं, उनमें से भी एक मैं हूँ। और फिर मैंने ही तो अभी उस रोज लोक रन्जनार्थ पत्नी-परित्याग की महिमा का बखान करते हुए एक मासिक पत्रिका में निबन्ध लिखा था। किन्तु यह कौन जानता था कि हृदय के रक्त से मुझे किसी दिन द्वितीय सीता-निर्वासन की कहानी भी लिखनी पड़ेगी।

पिता-पुत्री की विदा का मुहूर्त एक बार फिर आ पहुँचा। इस बार भी दोनों के मुँह पर हँसी खेल रही थी। बेटी ने हँसते-हँसते भर्त्सना के स्वर में कहा, "बाबूजी, अगर फिर कभी तुमने मुझे देखने के लिए पागल की तरह बेतहाशा दौड़ते हुए इस घर में पाँव रखा तो मैं दरवाजे बन्द कर लूँगी !"

पिता ने भी हँसते-हँसते ही कहा, "अगर फिर कभी आया तो साथ में सेंध लगाने के औजार भी लेता आऊँगा !" इसके बाद हेम

के ओंठों पर हमेशा रहनेवाली यह स्निग्ध हँसी फिर कभी देखने को नहीं मिली।

फिर क्या हुआ सो मुझसे कहा नहीं जायगा।

सुनता हूँ, माँ फिर उपयुक्त पात्री की तलाश में हैं। शायद किसी दिन माँ के अनुरोध की अवहेलना मुझसे न हो सके—यही खूब संभव है! क्योंकि...खैर, छोड़िये भी उन बातों को कहकर ही क्या होगा।

मौसी

"मौसी !"

"सो जाओ यतीन, रात हो आई है।"

"होने दो न रात, मेरे दिन तो अब बहुत नहीं हैं। मैं कह रहा था मणि को अपने पिता के यहाँ—भूल रहा हूँ, उसके पिता आजकल कहाँ—"

सीतारामपुर।"

"हाँ, सीतारामपुर। वहीं भेज दो मणि को, और कितने दिन रोगी की सेवा करेगी वह ? उसका शरीर भी वैसा स्वस्थ नहीं है।"

"भला यह भी कोई बात हुई ! तुम्हें ऐसी हालत में छोड़कर बहू जाना ही क्यों चाहेगी अपने बाप के घर ?"

"डाक्टरों ने क्या कहा है, सो क्या वह—"

"मान लो नहीं भी जानती डाक्टरों की बात—आँखों से तो देख रही है। उस दिन बाप के घर जाने की बात इशारे से जरा कही नहीं कि बहू रो-रोकर बेचैन हो गई।"

मौसी की इस बात में सत्य का कुछ आभास था, उसे यहाँ बतलाना जरूरी है। उस दिन मणि के साथ इस प्रसंग में उनकी जो बातचीत हुई थी वह इस प्रकार थी—

"बहू, तुम्हारे पिता के यहाँ से खबर आई है शायद ?"

"हाँ, माँ ने कहला भेजा है कि अगले शुक्रवार को छोटी बहन का अन्नप्राशन है। इसीसे सोचती हूँ—"

"अच्छा तो है बिटिया, एक सोने का हार भेज देना, तुम्हारी माँ खुश हो जायँगी।"

"सोचती हूँ मैं चली जाऊँ। अपनी छोटी बहन को तो देखा नहीं है, देखने को बहुत मन करता है।"

"यह कैसी बात है, यतीन को अकेली छोड़ जाओगी! डाक्टर ने क्या कहा है सुना तो है?"

"डाक्टर तो कहता था कि अभी ऐसा कुछ खास...."

"सो कहने दो, उसकी ऐसी हालत देखते हुए जाओगी ही कैसे?"

"हमारे तीन भाइयों की पीठ पर यही एक बहन है, बड़ी दुलारी है—सुना है खूब धूमधाम से अन्नप्राशन होगा—मेरे न जाने से माँ बहुत—"

"तुम्हारी माँ का भाव, बिटिया, मैं कह नहीं सकती। लेकिन यतीन के ऐसे समय में तुम अगर जाओ तो तुम्हारे पिता अवश्य नाराज होंगे, यह मैं कहे देती हूँ।"

"सो जानती हूँ। तुम्हें सिर्फ एक लकीर लिख देनी होगी कि कोई चिंता की बात नहीं है—मेरे जाने से कोई खास—"

"तुम्हारे जाने से कोई नुकसान नहीं है, सो क्या मालूम नहीं है! लेकिन तुम्हारे पिता को लिखना ही पड़े तो मेरे मन में जो कुछ है सो सब खोल कर ही लिख दूँगी।

"अच्छा तुम लिख ही दो न। उन्हें जाकर सब कुछ बतलाते ही वे—"

"देखो बहू बहुत सहा है—लेकिन इस हालत में अगर तुम यतीन के पास से जाओगी तो किसी तरह नहीं सह सकूँगी। तुम्हारे पिता तुम्हें खूब अच्छी तरह पहचानते हैं, उन्हें नहीं बहका सकोगी।"

यह कहकर मौसी चली आईं। मणि बहुत देर तक बिछौने पर ही नाराज़ पड़ी रही।

पड़ोस के घर से उसकी सहेली ने आकर पूछा, "यह क्या, यह कैसा कोप है?"

"देखो तो सही, मेरी एकमात्र बहन का अन्नप्राशन है और ये लोग मुझे जाने नहीं देना चाहते !"

"ओ माँ, यह कैसी बात है ! जाओगी कैसे ? पति जो बीमार पड़ा है ?"

"मैं तो कुछ भी नहीं करती, कर भी नहीं पाती। घर में सब लोग गुम-सुम, मेरा तो दम घुट रहा है। इस तरह मुझसे नहीं रहा जाता।"

"तुम भी अजीब औरत हो ! भला—"

"सो मैं तो, भई, तुम लोगों की तरह दिखावे का नाटक नहीं रच पाती। कोई क्या कहेगा, इसीलिए मुँह सीकर कोने में पड़े रहना मेरा काम नहीं है !"

"तो क्या करोगी, सुनूँ ?"

"मैं जाऊँगी ही, मुझे कोई पकड़कर नहीं रख सकेगा।"

"हिश्, इस तरह तेजी दिखाकर कहीं रहा जाता है। अच्छा चलूँ, मेरा काम पड़ा है।"

× × ×

पिता के घर जाने की बात सुनकर मणि रो पड़ी थी—इस खबर से विचलित होकर यतीन ने सिरहाने का तकिया पीठ की तरफ खींचा और कुछ उठकर टिकते हुए बैठ गया। बोला—"मौसी, यह खिड़की जरा और खोल दो....और दूसरे दीये की कमरे में जरूरत नहीं है।"

खिड़की खोलते ही स्तब्ध रात्रि किसी अनंत तीर्थपथ के पथिक की भाँति रोगी के द्वार के निकट चुपचाप खड़ी हो गई। अनन्त युग के अनन्त मृत्युकाल के साक्षी के समान आकाश के तारे यतीन की तरफ ताकते रह गये।

यतीन ने मानो उस वृहत् अन्धकार के पट पर अपनी मणि का प्रिय मुख देखा। बड़ी-बड़ी आँखें जैसे आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदों से भरपूर हैं—वे आँसू जैसे चुक ही नहीं पाते, जैसे हमेशा के लिए छल-छल करते रह गये हैं।

उसे बहुत देर तक चुप देखकर मौसी निश्चिन्त हो गईं। सोचा यतीन को नींद आ गई है।

इसी समय वह हठात् कह उठा—"मौसी, तुम लोग हमेशा यही समझती आई हो कि मणि का मन चंचल है—हम लोगों के घर में लगता नहीं। लेकिन देखो—"

"न बेटा, गलत समझा था मैंने—वक्त आने पर ही आदमी को पहचाना जाता है।"

"मौसी!"

"यतीन, सो जाओ बेटा।"

"मैं कह रहा था, आदमी को अपना ही मन ठीक-ठीक समझते कितना वक्त लगता है! एक दिन जब हम सोचते थे मणि का मन ही नहीं पा सके, तब मैंने चुपचाप सब कुछ सहा है। तुम लोग तब—"

"ना भैया, सो मत कहो—मैंने भी सहा है।"

"मन तो मिट्टी का ढेला नहीं है—छीन लेने से ही तो हाथ नहीं लग जाता। मैं जानता था मणि खुद ही अपने मन को अब तक समझ नहीं पाई है—जिस दिन कोई चोट खाकर समझेगी उस दिन फिर—" फिर कुछ रुककर कहा, "इसीलिए उसके लड़कपन की तरफ मैंने कभी कोई ख्याल नहीं किया!"

मौसी ने इसका कोई जवाब नहीं दिया—सिर्फ मन ही मन एक लंबी साँस ली। कई बार उसने देखा है कि यतीन ने बरामदे में ही रात काट दी है, पानी की बौछार आती रही तब भी कमरे में नहीं गया। कितने ही दिन वह सिर दर्द लेकर बिछौने पर जा लेटा है—बड़ी इच्छा रही है कि मणि आकर सिर पर जरा-सा हाथ फेर दे, लेकिन मणि तब अपनी सखियों के साथ थियेटर की तैयारी कर रही थी। जब मौसी यतीन को पंखा झलने आईं तो उसने खीझ कर उन्हें लौटा दिया। उस खीझ के भीतर कितनी व्यथा थी, उन्हें मालूम था। कितनी बार उन्होंने यतीन से कहना चाहा—"बेटा, तुम उस छोकरी की तरफ इतना ज्यादा मन मत देना—वह

जरा चाहना सीखे—आदमी को थोड़ा रुलाना चाहिए।"—लेकिन ये सब बातें कहने की नहीं होतीं, और कहने पर कोई समझता भी नहीं। यतीन के मन में नारी देवता का एक पीठस्थान था, वहीं उसने मणि को बिठा रक्खा था। लेकिन नारी का अमृत-पात्र उसके भाग्य में सदा खाली ही बना रहेगा—यह बात सोच सकना यतीन के लिए सहज नहीं था। मौसी जब फिर आश्वस्त होकर सोच रही थीं कि यतीन सो गया है तभी वह सहसा कह उठा—

"मुझे मालूम है, तुम समझती थीं कि मणि को लेकर मैं सुखी नहीं हो सका, इसीसे तुम उस पर नाराज रहती थीं। किंतु मौसी, सुख नाम की चीज आसमान के उन तारों की तरह है, अंधकार सब कुछ नहीं लीप पाता, बीच में संध रह जाती है। जीवन में कितनी गलतियाँ करते हैं, कितनी बार गलत समझ लेते हैं, न जाने कहाँ से मेरा अंतर आज आनंद से भर उठा है!"

मौसी हौले-हौले यतीन के कपाल पर अपना स्निग्ध हाथ फेरने लगी। अंधकार में उनकी आँखों से जो आँसू झर रहे थे उन्हें कोई नहीं देख पाया।

"मैं सोच रहा हूँ मौसी, उसकी कच्ची उम्र है, वह क्या लेकर रह सकेगी?"

"कच्ची उम्र कैसी, यतीन? यह तो उसकी ठीक उम्र है। हम लोगों ने भी तो बेटा, कच्ची उम्र में ही देवता को अंतर में बैठाया था। और मैं तो यह भी कहती हूँ कि आखिर सुख की ही ऐसी कौन-सी जरूरत है?"

"मौसी, जैसे ही मणि के मन के जागने का समय हुआ कि मैं—"

"इतनी चिंता क्यों, यतीन? मन यदि जागे तब वही क्या कम सौभाग्य है?"

हठात् बहुत दिनों पहले सुना एक पुराना बाउल-गीत यतीन को याद आया: 'ओ मन, जब तू सो रहा था तब तेरा मीत तेरे द्वार आया।

उसके लौट जाने की आहट से तेरी नींद टूटी—हाय, अन्धकार में नींद टूटी !'

"मौसी कितने बजे हैं ?"

"नौ बजने वाले हैं।"

"सिर्फ नौ ? मैं तो समझ रहा था शायद दो, तीन या ऐसे ही कुछ बजे होंगे। साँझ के साथ ही साथ मेरी रात भींगनी शुरू हो जाती है—तो तुम मेरी नींद के लिए इतनी व्यस्त क्यों हो गई थीं ?"

"कल भी साँझ से इसी तरह बातें करते-करते कितनी रात तक फिर तुम्हें नींद नहीं आई—इसी से आज तुम्हें जल्दी सो जाने के लिए कह रही हूँ !"

"मणि क्या सो गई है ?"

"न, वह तुम्हारे लिए मसूर की दाल का सूप तैयार करके ही सोने जाती है।"

"कहती क्या हो मौसी, मणि क्या—"

"वही तो तुम्हारा सब पथ्य बनाती है। उसे क्या चैन है ?"

"मैं तो समझता था कि मणि शायद—"

"लड़कियों को क्या यह सब सीखना पड़ता है, रे ? बखत पड़ने पर खुद ही कर लेती हैं सब !"

"आज दुपहरी को मुरल मछली का जो झोल बना था, वह बड़ा स्वादिष्ट था। मैं समझ रहा था तुम्हारे ही हाथ का बना है।"

"कहाँ मेरे भाग ! मणि क्या कुछ करने देती है ? तुम्हारा गमछा-तौलिया अपने हाथ से धो-फींचकर कैसा सुखाकर रखती है। जानती है कि तुम्हें जरा भी गन्दगी पसन्द नहीं। अपनी बाहर की बैठक अगर एक बार तुम देखो तो तुम्हें पता चले कि अपने हाथों उसे झाड़-पोंछकर कैसा झक-झक कर रखा है मणि ने। मैं अगर उसे तुम्हारे इस कमरे में हमेशा आने दूँ तो फिर और काम कौन देखेगा ! वह तो बहुत चाहती है।"

"मणि की तबियत शायद—"

जरा चाहना सीखे—आदमी को थोड़ा रुलाना चाहिए।"—लेकिन ये सब बातें कहने की नहीं होतीं, और कहने पर कोई समझता भी नहीं। यतीन के मन में नारी देवता का एक पीठस्थान था, वहीं उसने मणि को बिठा रक्खा था। लेकिन नारी का अमृत-पात्र उसके भाग्य में सदा खाली ही बना रहेगा—यह बात सोच सकना यतीन के लिए सहज नहीं था। मौसी जब फिर आश्वस्त होकर सोच रही थीं कि यतीन सो गया है तभी वह सहसा कह उठा—

"मुझे मालूम है, तुम समझती थीं कि मणि को लेकर मैं सुखी नहीं हो सका, इसीसे तुम उस पर नाराज रहती थीं। किंतु मौसी, सुख नाम की चीज आसमान के उन तारों की तरह है, अंधकार सब कुछ नहीं लीप पाता, बीच में संध रह जाती है। जीवन में कितनी गलतियाँ करते हैं, कितनी बार गलत समझ लेते हैं, न जाने कहाँ से मेरा अंतर आज आनंद से भर उठा है!"

मौसी हौले-हौले यतीन के कपाल पर अपना स्निग्ध हाथ फेरने लगी। अंधकार में उनकी आँखों से जो आँसू झर रहे थे उन्हें कोई नहीं देख पाया।

"मैं सोच रहा हूँ मौसी, उसकी कच्ची उम्र है, वह क्या लेकर रह सकेगी?"

"कच्ची उम्र कैसी, यतीन? यह तो उसकी ठीक उम्र है। हम लोगों ने भी तो बेटा, कच्ची उम्र में ही देवता को अंतर में बैठाया था। और मैं तो यह भी कहती हूँ कि आखिर सुख की ही ऐसी कौन-सी जरूरत है?"

"मौसी, जैसे ही मणि के मन के जागने का समय हुआ कि मैं—"

"इतनी चिंता क्यों, यतीन? मन यदि जागे तब वही क्या कम सौभाग्य है?"

हठात् बहुत दिनों पहले सुना एक पुराना बाउल-गीत यतीन को याद आया: 'ओ मन, जब तू सो रहा था तब तेरा मीत तेरे द्वार आया।

जमती। इसीलिए जब भी कभी शाम को यतीन मणि के साथ खुले बरा-मदे में चटाई फैलाकर बैठता तो दो-चार खींचा-तानी बातों के बनाव के बाद बातचीत का तार एकबारगी टूट जाता। तब उसे ऐसा लगता जैसे संध्या की नीरवता लज्जा से गड़ जाना चाहती है। ऐसे समय यतीन सोचता कि अगर मणि यहाँ से टल जाय तो जान बचे। ऐसे मौकों पर कई बार उसने चाहा है कि बीच में कोई तीसरा व्यक्ति आ पहुँचे तो कितना अच्छा हो। दो व्यक्तियों की बातचीत मुश्किल होती है, तीन की सहज।

मणि के आने पर आज वह किस तरह बात शुरू करेगा, यही वह सोचने लगा। सोचने से बात पता नहीं कैसे अस्वाभाविक ढंग से भारी हो उठती है—वह सब नहीं चलने का। यतीन को आशंका होने लगी—आज की रात के ये पाँच मिनट भी व्यर्थ हो जायेंगे। और उसके जीवन में ऐसे एकांत पाँच मिनिट और बाकी ही कितने हैं!

× × ×

"यह क्या बहू, कहीं जा रही हो क्या?"

"सीतारामपुर जाऊँगी।"

"यह कैसी बात? किसके साथ जाओगी?"

"अनाथ ले जा रहा है।"

"मेरी अच्छी बहू तुम जाना, मैं रोकूँगी नहीं, लेकिन आज मत जाओ।"

"टिकट खरीदकर डिब्बा रिजर्व करा लिया है।"

"सो होगा, वह नुकसान हम सह लेंगे—तुम कल तड़के सवेरे चली जाना—आज मत जाओ।"

"मौसी, मैं तुम लोगों के तिथि-वार नहीं मानती—आज जाने में क्या दोष है?"

"यतीन ने तुम्हें बुलाया है, तुमसे कुछ कहना है।"

"अच्छी बात है, अब भी तो थोड़ा वक्त बाकी है, मैं उनसे मिले लेती हूँ।"

"न, यह मत कहना कि जा रही हो।"

"अच्छी बात है, मैं कुछ भी नहीं कहूँगी, लेकिन मैं देरी नहीं कर सकती। कल ही अन्नप्राशन है—आज अगर नहीं जाऊँगी तो ठीक नहीं होगा।"

"मैं हाथ जोड़ती हूँ बहू, मेरी बात आज एक दिन के लिए रखो। आज मन तनिक शांत करके यतीन के पास जाकर बैठो—जल्दी मत मचाओ।"

"लेकिन तुम्हीं कहो क्या किया जाय, गाड़ी तो हमारे लिये बैठी नहीं रहेगी। अनाथ चला गया है, दस मिनट बाद ही आकर मुझे ले जाएगा। इसी बीच जाकर उनसे निपट आऊँ।"

"न, तब रहने दो—तुम जाओ। इस तरह उसके पास तुम्हें नहीं जाने दूँगी। अरी अभागिन, तूने जिसे इतना दुःख दिया वह तो छोड़कर आज नहीं तो कल चला जायगा—लेकिन तू जितने दिन जीती रहेगी—इस दिन की बात तुझे हमेशा याद रहेगी—भगवान् हैं, भगवान हैं, इसे एक दिन तू भी समझेगी।"

"मौसी, तुम इस तरह शाप मत दो, कहे देती हूँ।"

"हाय राम, अब और किस लिये बची हुई है, रे ? पाप की तो हद नहीं—"

मौसी जरा देर करके रोगी के कमरे में गई। सोचा यतीन सो गया होगा। किन्तु कमरे में घुसते ही देखा कि वह बिछौने पर हिल-डुल रहा है, सोया नहीं है। मौसी बोलीं, "वह एक काण्ड कर बैठी है।"

"क्या हुआ ? मणि नहीं आई ? इतनी देरी क्यों की, मौसी ?"

"मैं जब गई तो देखा कि वह तुम्हारा दूध उबालने गयी और सारा दूध जला बैठी, इसीलिए रो रही थी। मैंने कहा, आखिर हुआ क्या, और भी तो दूध पड़ा है। लेकिन लापरवाही से तुम्हारे पीने का दूध जो जला दिया सो उसकी शर्म उससे किसी तरह कट नहीं रही थी। उसे खूब समझा-बुझाकर शान्त करके बिछौने पर सुला आई हूँ।"

मणि नहीं आई यह सुनकर यतीन की छाती में जब एक तरफ

आघात लगा तो दूसरी ही तरफ आराम भी मिला। उसे आशंका हो रही थी कि कहीं मणि सशरीर आकर अपनी कल्पना-माधुरी को नष्ट न कर जाये। ऐसा अनेक बार हुआ है उसके जीवन में। दूध जला बैठने के कारण मणि का कोमल हृदय अनुताप से व्यथित हो उठा, इसी बात के रस से यतीन का हृदय भर-भर आने लगा।

"मौसी।"

"क्या बेटा?"

"मैं खूब जानता हूँ मेरे दिन चुकने को आये हैं। लेकिन कोई खेद नहीं है मेरे मन में। तुम मेरे लिये शोक मत करना।"

"ना बेटा, मैं शोक नहीं करूँगी। जीवन ही मंगलमय है और मरण नहीं, यह बात मैं नहीं मानती।"

"मौसी, मैं सच कह रहा हूँ मृत्यु मुझे मधुर जान पड़ रही है।"

अंधियारे आकाश की तरफ यतीन देख रहा था, उसकी मणि आज मृत्यु का वेश धारण कर आ खड़ी हुई है। वह आज अक्षय यौवन से पूर्ण है—वह गृहिणी है, वह जननी है, रूपसी है, कल्याणी है। उसी के खुले केशों पर वे आकाश के तारे—लक्ष्मी ने अपने हाथों से गूँथी है। आशीर्वाद की माला है। दोनों के सिर पर ताने हुए इस अन्धकार के मंगल-वस्त्र की छाया में मानों उनका नया विवाह हुआ, नवीन "शुभदृष्टि" हुई। मणि की अनिमेष प्रेमदृष्टि से रात का यह विपुल अन्धकार भरपूर हो उठा। इस घर की वधुमणि, वह छोटी-सी, जरा सी मणि आज विश्व-रूप धारण किये हुए है—जीवन-मरण के संगमतीर्थ में उन नक्षत्रों की वेदी पर उसने आज अपना आसन ग्रहण किया है—इस निस्तब्ध रात्रि में मंगलघट के समान आज वह पुण्यधारा भर लाई है। यतीन ने हाथ जोड़कर मन-ही-मन कहा, "इतने दिन बाद घूँघट खुला है, इस घोर अन्धकार के बीच आवरण मुक्त हुआ है—तुमने बहुत रुलाया है—सुन्दरी, हे सुन्दरी, अब और नहीं छल सकोगी।"

× ×

"कष्ट हो रहा है मौसी, किन्तु जैसा तुम समझ रही हो वैसा तो कुछ भी नहीं है। अपनी ही पीड़ा के साथ मानो धीरे-धीरे मेरा ही विच्छेद होता जा रहा है। इतने दिन भारवाही नाव के समान वह मेरे जीवन-जहाज के साथ बँधी हुई थी, आज जैसे बंधन कट गया है—वह मेरा सारा बोझ लेकर मानो वह चली है। देख तो पाता हूँ उसे, लेकिन अब वह मेरी नहीं लगती। इन दो दिनों से मणि को एक बार भी नहीं देख पाया, मौसी"

"पीठ के पास एक और सिरहाना दूँ क्या, यतीन?"

"मुझे लगता है मौसी, मणि भी जैसे चली गई हो—मेरी उसी बन्धनहीन दुःख की नाव के समान।"

"बेटा, ज़रा-सा बेदाने का रस पी लो, तुम्हारा गला सूख रहा है।"

"मेरा वसीयतनामा कल लिखा जा चुका है—तुम्हें दिखा चुका हूँ या नहीं, ठीक याद नहीं पड़ता।"

"मेरे देखने की जरूरत नहीं है, यतीन।"

"माँ जब मरीं तब मेरा तो कुछ भी नहीं था। तुम्हारा ही खाकर तुम्हारे हाथों बड़ा हुआ हूँ। इसी से कह रहा था—"

"यह तू क्या कह रहा है, यतीन? मेरा तो सिर्फ एक घर और थोड़ी मामूली-सी सम्पत्ति थी, बाकी सभी तो तूने रोजगार करके बनाया है।"

"लेकिन यह घर तो—"

"कैसा घर। कितने दर-दालान तुमने बढ़ाये हैं, वह मेरी जरा-सी जगह तो खोजे नहीं मिलती।"

"मणि तुम्हें भीतर ही भीतर खूब—"

"सो क्या जानती नहीं हूँ, यतीन? तू इस वक्त जरा सो जा।"

"मैंने सब कुछ लिख दिया है, मणि को, लेकिन रहा सब तुम्हारा ही, मौसी। वह तो तुम्हें कभी भी अमान्य नहीं करेगी।"

"इसके लिए तुम इतना सोचते ही क्यों हो, बेटा!"

"तुम्हारे ही आशीर्वाद से मेरा सब है, तुम मेरा वसीयतनामा देख कर ऐसा किसी दिन मत सोचना—"

"यह कैसी बात है, यतीन ? तुम अपनी चीज मणि को दिये जा रहे हो, इस कारण क्या मैं कुछ ख्याल करूँगी ? ऐसा ही जला मन है क्या मेरा ? अपनी वस्तु तुम मणि के नाम लिखवा रहे हो, इससे तुम्हें जो सुख है वही तो मेरे सब सुखों से बढ़कर है, भैया !"

"किन्तु तुम्हें भी मैं—"

"देखो, यतीन, अबकी मैं गुस्सा करूँगी । तू चला जायगा और मुझे रुपये देकर भुला रक्खेगा ?"

"मौसी, रुपये से बड़ा कुछ और तो तुम्हें—"

"दिया है, यतीन, ढेरों दिया है । मेरा सूना घर तूने भर दिया था, यह मेरे अनेक जन्मों का सौभाग्य था । इतने दिन तो अंक-भरकर पाया है, आज अगर मेरा पावना चुक हो जाय तो शिकायत नहीं करूँगी । दे दो, सब लिख दो, लिख दो घर-द्वार, गाड़ी-घोड़ा, जमीन-जायदाद, गाँव मकान जो कुछ है सब मणि के नाम लिख दो—यह बोझा मुझसे नहीं सहा जायगा ।"

"भोग में तुम्हारी रुचि नहीं है—किंतु मणि की उम्र तो कम है इसीसे—"

"ऐसा न कहो, यतीन, ऐसा न कहो । देना चाहता है तो दे, लेकिन भोग करने—"

"भोग क्यों नहीं करेगी, मौसी ?"

"ना रे ना, कर ही नहीं सकेगी "

यतीन चुप सुनता रहा । उसके अभाव में संसार मणि के लिए बेस्वाद हो उठेगा यह बात सच है या मिथ्या, खुशी की है या दुःख की, वह सोच-कर कुछ भी तय नहीं कर पाया । आकाश के तारे मानों उसके हृदय में घुसकर उससे कहने लगे, "यह तो होता रहा है, हम हजारों बरसों से

देखते आ रहे हैं, संसार भर में विस्तृत यह संपूर्ण आयोजन एक ऐसी ही छलना है।"

यतीन एक बहुत गहरी साँस छोड़कर बोला, "देने योग्य वस्तु तो कुछ भी नहीं दे पाया।

"कम क्या दिये जा रहे हो, भैया?" घर-द्वार, रुपये-पैसे के बहाने तुम उसे क्या दे गये सो उसका मूल्य क्या वह किसी दिन नहीं समझेगी? जो तुम दिये जा रहे हो, उसे सिर झुकाकर ग्रहण करने की शक्ति उसे विधाता दें, यही आशीर्वाद देती हूँ।"

"और थोड़ा बेदाने का रस दो, गला सूखता आ रहा है। कल क्या मणि आई थी—मुझे ठीक याद नहीं आ रहा है।

"आई थी, तब तुम सो रहे थे। सिरहाने के निकट. बैठी-बैठी बहुत देर तक तुम्हें पंखा झलती रही, फिर धोबी को तुम्हारे कपड़े देने चली गई।"

"आश्चर्य है। लगता है, मैं ठीक उसी समय सपना देख रहा था, जैसे मणि मेरे कमरे में आना चाह रही है—दरवाजे में जरा-सी संघ हो गई है—वह ठेल रही है लेकिन उससे ज्यादा और जगह नहीं खुल पाती। किंतु मौसी, तुम लोग जरा ज्यादती कर रही हो—उसे देखने दो कि मैं मर रहा हूँ—नहीं तो मृत्यु को हठात् वह सह नहीं पायेगी।"

"बेटा, तुम्हारे पैरों पर यह ऊनी शाल खींच दूँ—तलुवे ठंडे हो गये हैं।"

"ना मौसी, देह पर कुछ भी ओढ़ते नहीं बनता।"

"तुझे मालूम है, यतीन? यह शाल मणि ने काढ़ा था, इतने दिन रात-रात जागकर उसने तैयार किया था। कल खत्म किया है।"

यतीन ने शाल दोनों हाथों में लेकर कुछ इधर-उधर डुलाया। उसे लगा जैसे ऊन की कोमलता मणि के मन की वस्तु है—उसने खूब मन लगाकर यतीन के लिए रात जाग-जागकर इसे बुना है—उसके मन की भावना ही जैसे इसके साथ गुँथ गई है। इसी से जब मौसी ने शाल उसके

पैरों पर खींच दिया तब उसे लगा मानों मणि रात-रात जागकर उसकी पदसेवा करती रही है।

"किन्तु मौसी, मैं तो समझता था कि मणि सिलाई करना ही नहीं जानती, उसे सिलाई पसंद नहीं है।"

"मन लगाकर सीखते कितनी देर लगती है? उसे नमूना दिखला दिया था, और फिर इसमें बहुत-सी भूलें भी हैं।"

"सो रहने दो, इसे पैरिस-एक्जिबिशन में तो भेजना नहीं है—गलत सिलाई से भी मेरे पाँव ढाँकने का काम मजे में चल जाएगा।"

सिलाई में बहुत-सी त्रुटि रह गई है, यही सोचकर यतीन को और भी आनन्द हुआ। बेचारी मणि जानती नहीं है, बनता भी नहीं है, बार-बार भूल करती है, फिर भी कितने धीरज से रात-रात जागकर सिलाई करती जा रही है—यह कल्पना उसे बहुत कल्याणकर, बहुत मधुर लगी। उस भूलों से भरे शाल को उसने फिर एक बार जरा हिला लिया।

"मौसी, डाक्टर शायद नीचे के कमरे में हैं?"

"हाँ यतीन, आज रात रहेंगे।"

"किन्तु मुझे आज झूठ-मूठ नींद की दवा न दी जाय। देखती तो हो, उससे मुझे नींद तो आती नहीं सिर्फ तकलीफ बढ़ जाती है। मुझे अच्छी तरह जागते रहने दो। जानती हो मौसी, वैशाख द्वादशी की रात हम लोगों का ब्याह हुआ था—कल वही द्वादशी आ रही है—कल उसी दिन के समान आकाश के सब तारे जला दिये जाएँगे। मणि को शायद याद नहीं है—मैं उसे यही बात याद करा देना चाहता हूँ—तुम उसे सिर्फ दो मिनट के लिए बुला दो। चुप क्यों रह गई? शायद डाक्टर ने तुम लोगों से कह रखा है कि मेरा शरीर दुर्बल है, इस समय जिससे मेरे मन में कोई—किंतु मैं तुम्हें ठीक बताता हूँ मौसी, आज रात उसके साथ दो बातें कर ले सकने से मेरा मन खूब शांत हो जाएगा—तब फिर शायद और सोने की दवा नहीं देनी पड़ेगी। मेरा मन उससे कुछ कहना चाह रहा है, इसी से मुझे पिछली दो रात नींद नहीं आई। इसी कारण मैं

मणि को बुलवा रहा हूँ। मुझे लगता है, आज जैसे अपना यह भरा हृदय उसके हाथ दे जा सकूँगा। उससे कितने दिन कितने ही तरह बातें करनी चाही हैं, कह नहीं पाया, किन्तु अब और एक पल की भी देरी मत करो मौसी, उसे अभी बुला दो—इसके बाद मुझे फिर वक्त नहीं मिलेगा—ना मौसी, तुम्हारी यह रुलाई मुझसे सही नहीं जाती। इतने दिन तो तुम शांत थीं, आज क्यों ऐसा हो रहा है ?

"अरे यतीन, सोचती थी मेरी सारी रुलाई चुक गई है—किंतु देखती हूँ, अब भी बाकी है, आज तो और नहीं सहा जा रहा है।"

"मणि को बुला दो—उससे कह दूँ, कल की रात के लिए जिससे—"

"जाती हूँ, बेटा। शम्भू दरवाजे के पास ही है, कुछ जरूरत हो तो उसे पुकार लेना।"

मौसी मणि के सोने के कमरे में जाकर फर्श पर बैठ गईं और पुकार कर कहने लगीं—"ओ री आ, एक बार आ, ओ राक्षसी ! जिसने तुझे अपना सब कुछ दे डाला है, उसकी आखिरी बात रख जा—वह खुद मरने के लिए बैठा है, उसे और मत मार।"

यतीन पैरों की आवाज सुनकर चौंक पड़ा, बोला, "मणि ?"

"ना, मैं हूँ शंभू, मुझे पुकारा था आपने ?"

"एक बार अपनी बहू—ठकुराइनी को बुला दो।"

"किनको ?"

"बहू ठकुरानी को।"

"वे तो अभी लौटी नहीं हैं।"

"कहाँ गई हैं ?"

"सीतारामपुर।"

"आज गई हैं ?"

"ना, आज तो तीन दिन हो गये।"

पल भर के लिए यतीन का सारा शरीर झनझना गया—आँखों में अँधेरा छा गया। इतनी देर तक तकिये से टिककर बैठा था, अब लेट

रहा। पैरों पर वही ऊनी शाल ढँका हुआ था—उसे पावों से दूर झटक दिया।

बहुत देर बाद जब मौसी आई, यतीन ने मणि की कोई बात नहीं पूछी। मौसी ने समझा वह बात अब उसे भूल गई है।

हठात् एक बार यतीन कह उठा—"मौसी, तुम्हें क्या अपने उस दिन के सपने की बात मैंने कही थी?"

"कौन-सा सपना?"

"वही—मणि मानो मेरे कमरे में आने के लिये दरवाजा ठेल रही है—किसी भी तरह कपाटों के बीच इतनी-सी से ज्यादा सुध नहीं हो पा रही है? वह बाहर से ताकती है, किन्तु किसी भी तरह घुस नहीं पाती। मणि हमेशा मेरे घर के बाहर खड़ी रह गई। उसे बहुत पुकारा लेकिन उसके लायक यहाँ जगह न हो सकी।"

मौसी कुछ न कहकर चुपचाप रह गईं। सोचने लगीं कि यतीन के लिए मिथ्या के आधार पर वे जो जरा-सा स्वर्ग रचा रही थीं वह और नहीं टिक सका। दुःख अब आये तो उसे स्वीकार कर लेना ही अच्छा है—धोखे की सहायता से विधाता की मार को दूर रखने की चेष्टा कुछ मतलब नहीं रखती।

"मौसी, तुम्हारे निकट जो प्यार पाया है वह मेरे जन्म-जन्मान्तर का पाथेय है, उसी से अपने संपूर्ण जीवन को भरकर मैं चला। अगले जन्म में तुम जरूर मेरी बेटी होकर पैदा होगी, मैं तुम्हें छाती से लगाकर बड़ी करूँगा।"

"यह क्या कह रहा है यतीन, फिर लड़की का ही जन्म लेना होगा? —न हो, तेरी गोद में लड़का होकर जन्म लूँ—ऐसी ही कामना कर न।"

"न, न, लड़का नहीं। बचपन में जैसी सुन्दर थीं वैसी ही सुन्दरी होकर तुम मेरे घर में आना। मुझे खूब मालूम है मैं तुम्हें किस तरह सजाया करूँगा।"

"अब और मत बक यतीन—थोड़ा सो जा।"

"तुम्हारा नाम रखूँगा, लक्ष्मीरानी।"

"यह तो आजकल का नाम नहीं हुआ।"

"ना, आजकल का नाम नहीं है। मौसी, तुम मेरा बीता युग हो—वही बीता युग लेकर तुम मेरे घर आना।"

"तुझ पर लड़की होने का बोझा और दुःख लेकर आऊँ—मैं तो ऐसी कामना ही नहीं कर सकती।"

"मौसी, तुम मुझे दुर्बल समझती हो—मुझे दुःख से बचाना चाहती हो?"

"बेटा, मेरा स्त्री का मन जो है, मैं ही दुर्बल हूँ—इसी से बहुत डर-डरकर तुझे सारी आपद-विपद से हमेशा बचा रखना चाहा है। लेकिन मेरी शक्ति ही कितनी है! कुछ भी तो नहीं कर पायी।"

"मौसी, इस जन्म की शिक्षा को इसी जन्मकाल में लाने का मुझे मौका मिला। लेकिन यह सब जमा रहेगा, अगली बार, आदमी क्या कर सकता है सो मैं दिखला दूँगा। हमेशा केवल अपनी ही तरफ ताकते रहना कितनी बड़ी मिथ्याशून्यता है, सो मैंने समझ लिया है।"

"चाहे जो कहो बेटा, तुमने स्वयं कुछ नहीं लिया, दूसरों को ही सब कुछ देते आये!"

"मौसी, एक बात का गर्व मैं बराबर कर सकता हूँ, सुख के ऊपर मैंने जबर्दस्ती नहीं की—किसी दिन यह नहीं कहा कि जहाँ मेरा दावा है वहाँ मैं जोर चलाऊँगा। जो नहीं पाया, उसके लिए कभी खींचातानी भी नहीं की। वही चीज चाही जिसपर किसी का हक नहीं है—सारे जीवन हाथ जोड़े सिर्फ यह राह ही देखता रहा। मिथ्या को नहीं चाहा इसीलिए इतने दिन यों वंचित बैठा रहना पड़ा—इस बार सत्य की कृपा होगी। वह कौन है—मौसी, वह कौन है, वह?"

"कहाँ, कोई तो नहीं है यतीन।"

"मौसी, तुम एक बार जरा वह कमरा तो देख आओ, मैंने जैसे—"

"न बेटा, कोई तो नहीं दिखता।"

"लेकिन मैंने जैसे साफ—"

"कुछ नहीं है यतीन, यह देखकर डाक्टर बाबू आये हैं।"

डाक्टर बोले, "देखिये, आपके पास बैठने से वे बहुत बोलते रहते हैं। कितनी रातें तो इसी तरह जागते काट दी हैं! आप सोने जाइये, हमारा वह आदमी यहाँ रहेगा।"

"न मौसी, तुम्हें नहीं जाने दूँगा। नहीं-नहीं, तुम मेरे पास ही बैठी रहो—मैं तुम्हारा हाथ किसी तरह नहीं छोड़ूँगा—आखीर तक नहीं। मैं तुम्हारे ही हाथों बड़ा हुआ हूँ, तुम्हारे ही हाथ से भगवान् मुझे ले लें।"

"अच्छी बात है, लेकिन आप बातचीत न करें, यतीन बाबू। वह दवा पिलाने का वक्त हो गया—" डाक्टर ने कहा।

"वक्त हो गया? झूठी बात है। वक्त बीत चुका—अब दवा पिलाना सिर्फ झूठमूठ मन को बहलाना है। मुझे अब इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। मैं मरने से नहीं डरता। मौसी, यम की चिकित्सा चल रही है, तिस-पर इतने सारे डाक्टर क्यों इकट्ठे कर रखे हैं? विदा कर दो, सबको विदा कर दो। इस समय मेरी एकमात्र तुम्हीं हो—और मुझे किसी की जरूरत नहीं—किसी की नहीं—किसी भी मिथ्या की नहीं।"

"आपकी यह उत्तेजना तो अच्छी नहीं है," डाक्टर ने कहा।

"तो चले जाओ—मत करो मुझे उत्तेजित। मौसी, डाक्टर गया? अच्छा, तब तुम इस बिछौने पर आकर बैठो—मैं जरा तुम्हारी गोद में सिर रखकर लेटूँ।"

"अच्छा भैया, मेरा राजा बेटा, जरा-सा सो जा।"

"ना, मौसी सोने के लिए मत कहो...सोते-सोते शायद फिर कभी नींद ही न टूटे। अभी मुझे और भी जागते रहने की जरूरत है। आहट नहीं सुन पा रही हो? वह आ रहा है। अभी आ जाएगा।"

× × ×

"बेटा यतीन, जरा इधर देख...यह देख आ गई है।"

"कौन आया है ? सपना है क्या ?"

"सपना नहीं है बेटा, मणि आई है—तुम्हारे ससुर आये हैं।"

"तुम कौन ?"

"पहचान नहीं पा रहा है भैया, वही तो तेरी मणि है।"

"मणि ? वह दरवाजा क्या खुल गया है ?"

"खुल गया, बेटा मेरे, सब खुल गया है।"

"नहीं मौसी मेरे पावों पर वह शाल मत डालो, वह शाल झूठ है, छलना है।"

"शाल नहीं है, यतीन। बहू तुम्हारे पावों पर पड़ी हुई है...उसके सिर पर हाथ रखकर जरा असीस दे दो।...इस तरह मत रो बहू, रोने का वक्त आता है...अभी जरा चुप रह।"

भैया-दूज

सावन का महीना मानो आज रात भर में ही बिल्कुल दिवालिया हो गया। पूरे आकाश में कहीं भी बादल का एक टुकड़ा नजर नहीं आता।

अचरज तो यह है कि मेरी सुबह आज यों मजे में कट रही है। मेरे बाग में मेंहदी की झाड़ी के पास शिरीष के पत्ते सुबह की चमकीली धूप में झिलमिला रहे हैं—मैं उन्हीं की ओर देख रहा हूँ। सर्वनाश की जिस मंझधार में आ पहुँचा हूँ, उसकी दूर ही से कल्पना करके सर्दी की न मालूम कितनी रातों में मेरा बदन पसीने-पसीने हो उठा और गरमी के दिनों में हाथ-पैर ठंडे हो गये हैं। किन्तु आज सारी चिंता से कुछ इस तरह छुट्टी मिल गई कि वह जो निरर्थक प्राणी शरीफे की डाल पर गिरगिट की तरह स्थिर होकर शिकार की ओर ध्यान लगाये है, उस पर भी मेरी दृष्टि जा अटकी।

सर्वस्व खोकर राह का भिखारी हो जाऊँ, यह उतना कठिन नहीं था, किन्तु हमारे वंश की साधुता की जो ख्याति तीन पीढ़ियों से चली आ रही है, वह मेरे ही जीवन में नष्ट होने वाली है, इसी की लज्जा से मुझे रात-दिन चैन नहीं था—यहाँ तक कि कई बार आत्महत्या तक का ख्याल मन में आया। किन्तु आज जब सारा आवरण उठ गया, कागज-पत्र के गुहागह्वर से बदनामी के काले अक्षर कीड़ों की तरह बिलबिलाते हुए अदालत से अखबार तक बिखर गये, तो मेरा एक बड़ा भारी बोझ हलका हो गया। पुरखों के सुनाम को ढोते फिरने की कठिन जिम्मेदारी से छुटकारा मिल गया। सबको मालूम हो गया कि मैं बेईमान हूँ। चलो छुट्टी मिली।

वकील लोग तो आपस में खींच-तानकर सारा भेद खोल ही लेंगे, केवल सबसे अधिक कलंक की बात के अदालत में भी खुलने की संभा-

वना नहीं है, क्योंकि स्वयं धर्म को छोड़ उसका और कोई फरियादी आज बाकी नहीं। इसलिए उसे ही प्रकाशित कर देने के लिए आज मैंने कलम उठायी है।

मेरे पितामह उद्धव दत्त ने अपने मालिक के वंश को मुसीबत के दिनों में अपनी निजी सम्पत्ति देकर बचाया था। सो तब से हमारी गरीबी ने ही औरों की अमीरी से भी अधिक सिर ऊँचा किया। मेरे पितामह सनातन दत्त डीरोजियो के छात्र थे। शराब के वे जितने आदी थे, सत्य के उससे भी अधिक आदी थे। हमारी माँ ने किसी दिन नाई-ठाकुरों की एक कहानी हमें सुना दी तो पिताजी ने शाम के बाद हम लोगों का घर के भीतर की एक तरफ फटकना ही बन्द कर दिया। बाहर पढ़ने के कमरे में ही मैं सोया करता। वहाँ पूरी दीवार पर टंगे हुए नकशे सत्य की घोषणा करते—कहानी में वर्णित द्वीपान्तर पार के विपुल मैदान का वहाँ पता नहीं था। सचाई के संबन्ध में उनका हठ बड़ा प्रबल था। हमारी जवाबदेही का कोई अन्त नहीं था। एक दिन किसी फेरीवाले ने दादा को कोई चीज बेची। उसी पुड़िया की डोरी लेकर मैं खेल रहा था। बाबू जी का हुकुम पाकर फेरीवाले को डोरी लौटा देने के लिए मुझे सड़क की ओर दौड़ लगानी पड़ी थी।

हम लोग साधुता के जेलखाने में सचाई की बेड़ियाँ झनझनाते हुए बड़े हुए—आदमी बने। "आदमी" कहना कुछ अधिक हो जायगा—हमें छोड़ और सभी आदमी थे। हम लोग तो थे केवल आदमियों के लिये एक जीती-जागती मिसाल। हमारा खेलना-कूदना मुश्किल था, मजाक बन्द, गप्प बन्द, बोलना कम, हँसी संयत और व्यवहार बिल्कुल ही निर्दोष! इससे हमारी बाललीला में जो एक जबर्दस्त शून्यता आ गई थी, उसे लोगों की प्रशंसा से भर दिया जाता। स्कूल के मास्टरों से लेकर साधारण दूकानदार तक आस-पास के सभी लोग स्वीकार करते थे कि दत्त-परिवार के लड़के सतयुग से राह भूलकर इस युग में आ पहुँचे हैं।

पत्थरों से जड़े हुए ठोस रास्ते में भी जरा-सी संधि पाते ही प्रकृति

भीतर से अपनी प्राणशक्ति की हरी जय-पताका फहरा देती है। मेरे जीवन की सभी तिथियाँ एकादशी हो गई थीं, किन्तु उन्हीं के भीतर उपवास की जाने किस संधि से मैंने तनिक-सी सुधा का भी स्वाद पाया था।

जिन थोड़े से घरों में हमारे आने-जाने पर रोक नहीं थी, उन्हीं में से थे एक अखिल बाबू। वे ब्राह्मण समाज के आदमी थे, बाबूजी का उन पर विश्वास था। उनकी अनुसूइया मुझसे छः बरस छोटी थी। मैंने उसके शासनकर्ता की जगह अनायास ही प्राप्त कर ली थी।

उसके शिशुमुख की गहरी काली आँखों की पलकें मुझे याद आती हैं। उन पलकों की छाया में पृथ्वी के प्रकाश की सारी प्रखरता मानों उसकी आँखों के भीतर कोमल होकर आ बैठी थी। स्निग्ध भाव से वह मुँह की ओर ताका करती थी। पीठ पर उसकी वेणी झूला करती, वह भी मुझे याद आती है। और याद आते हैं उसके वे दोनों हाथ। मालूम नहीं, क्यों उनमें एक बड़ी करुणा-सी थी। जैसे राह चलते-चलते वह और किसी का हाथ थामना चाहती हो, उसकी वे मुलायम अंगुलियाँ जैसे संपूर्ण विश्वास के साथ किसी की मुट्ठी में पकड़ा दिये जाने की बाट जोह रही हों!

उस दिन ठीक इसी रूप में उसे देखा था, यह कहना तो कुछ गलत होगा। किन्तु हम लोग पूरी तरह समझ लेने के पूर्व भी तो बहुत कुछ समझ लिया करते हैं! हमारे अगोचर चित्त में बहुत-से चित्रों का अंकन हो जाया करता है,—सहसा किसी दिन किसी एक तरफ से रोशनी पड़ते ही वे साफ दिखाई देने लगते हैं।

अनु के मन के दरवाजे पर कोई कड़ा पहरा न था। वह हर किसी का विश्वास कर लेती थी। लेकिन अपनी बूढ़ी दादी के निकट उसने विश्वतत्व के संबंध में जो शिक्षा प्राप्त की थी, वह नक्शों से भरे मेरे पढ़ने के कमरे के ज्ञान-भण्डार के कूड़े-करकट में जगह पाने योग्य नहीं थी। फिर, वह अपनी कल्पना के संयोग से न मालूम किन-किन की सृष्टि किया करती थी। इस जगह मुझे उस पर बराबर शासन करना पड़ता।

कहते रहना पड़ता, "अनु, यह सब झूठ है। जानती हो, इससे पाप लगता है।" सुनकर अनु की आँखों की श्यामल पलक छाया पर जैसे भय की एक छाया आ पड़ती। वह जब अपनी नन्हीं बहन की रुलाई बन्द करने के लिये जाने क्या-क्या बेकार की बातें करने लगती। और उसे भुलाकर दूध पिलाने के लिए जहाँ पंछी नहीं, वहाँ पंछी होने का भान करके ऊँचे स्वर से झूठ-मूठ की खबरें देने लगती, तब मैं उसी समय गंभीर होकर उसे सावधान किया करता और कहता, "उसे तुम जो झूठ-मूठ की बातें कह रही हो, सो परमेश्वर सब सुन रहे हैं। अभी इसी समय तुम्हें क्षमा माँगनी चाहिये।"

इस प्रकार मैंने उस पर जितना शासन किया, उसने सब स्वीकार कर लिया। वह अपने को जितना ही अधिक अपराधी समझती, मैं उतना ही खुश होता। कड़े शासन के द्वारा मनुष्य का भला कर पाने का सुयोग मिलने पर हमें स्वयं जो शासित होकर भला बनना पड़ता है, सो उसकी जैसे एक कीमत वसूल हो जाती है। अनु भी मुझे अपनी और संसार के अधिकांश व्यक्तियों की तुलना में आश्चर्यजनक रूप से भला माना करती थी।

धीरे-धीरे उम्र बढ़ चली, स्कूल से कालिज में दाखिल हुआ। अखिल बाबू की स्त्री भी भीतर ही भीतर साध थी कि मुझ-जैसे अच्छे लड़के के साथ अनु का ब्याह कर दें। मुझे भी विश्वास था कि किसी कन्या के पिता की आँखों का भरमा सकने वाला लड़का मैं नहीं हूँ। लेकिन एक दिन सुनने में आया कि बी० एल० पास किसी ताजे मुंसिफ के बेटे से अनु का संबन्ध पक्का हो गया है! हम गरीब थे सही, किन्तु मैं तो समझता था कि ठीक इसी कारण हमारा दाम ज्यादा उतरता है। लेकिन लड़कियों के पिता के हिसाब-किताब का तरीका न्यारा होता है।

विसर्जन की प्रतिमा डूब गई। वह एकबारगी ही जीवन की जाने किस ओट में जा पड़ी। बचपन से ही जो मेरा सबसे अधिक अपना था, वह एक ही दिन के भीतर हज़ारों-लाखों अपरिचित व्यक्तियों के समुद्र में

विलीन हो गया। उस दिन जी को कैसा लगा था, जी ही जानता है। किन्तु क्या विसर्जन के बाद भी मैं पहचान सका था कि वह मेरी देवी की प्रतिमा थी? नहीं, उस दिन तो मेरा अभिमान आहत होकर जैसे और भी तरंगित हो उठा था, अनु को तो सदा ही छोटी समझता आया था। उस दिन अपनी योग्यता की तुलना में उसे और भी छोटी माना। मेरी श्रेष्ठता की पूजा जो नहीं हुई, इस बात को मैंने तब संसार में सबसे अधिक कल्याण समझा।

खैर, इतना तो समझ में आ गया कि संसार में कोरे सच्चे बने रहने से कोई फायदा नहीं। संकल्प किया कि भविष्य में इतना पैसा पैदा करूँगा कि एक दिन आखिर अखिल बाबू भी याद करके कि सचमुच ही बड़ा धोखा हुआ! खूब जोर-शोर से काम का आदमी बनने का उपक्रम शुरू किया। काम के आदमी होने का सबसे बड़ा साधन अपने ऊपर अगाध विश्वास है, सो इस तरफ से मुझमें कभी कोई कमी नहीं रही। यह चीज संक्रामक होती है, जो स्वयं अपने पर विश्वास करता है, अधिकांश आदमी उसी पर विश्वास किया करते हैं। कामकाजी मस्तिष्क मुझमें स्वाभाविक रूप से असाधारण है, यह बात सभी लोग स्वीकार करने लगे।

कामकाजी साहित्य और कागज-पत्र से मेरे शेल्फ और मेज भरने लगे। मकानों की मरम्मत, बिजली की रोशनी और पंखों का कौशल, चीजों के भाव, बाजार-दर के चढ़ने-उतरने का गूढ़ रहस्य, एक्सचेंज का भेद, प्लान, एस्टिमेट आदि विद्याओं की महफिल जमा देने योग्य उस्तादी मैंने एक तरह से पूरी-पूरी अख्तियार कर ली। लेकिन हर वक्त काम की बात करके भी काम के मैदान में उतरा नहीं। इसी अवस्था में मेरे बहुत दिन बीत गये। मेरे भक्तवृन्द जब भी मुझसे किसी स्वदेशी कंपनी में शामिल होने का प्रस्ताव करते, मैं उन्हें समझा दिया करता कि आज जितने कारबार चल रहे हैं, उनमें से किसी का भी काम ठीक नहीं है। सभी में गोलमाल है, और इसके सिवा ईमानदारी की रक्षा करके चलने-वाले को उन सबके पास तक फटकने की गंजाइश नहीं। एक मित्र ने यह

कहने पर कि ईमानदारी की लगाम थोड़ी-बहुत ढीली किये बिना रोजगार चल ही नहीं सकता, मैंने उससे संबंध तोड़ लिया।

अंतिम दिन तक सर्वाङ्ग-सुन्दर प्लान, एस्टिमेट और प्रास्पेक्टस लिखकर मैं अपना यश अक्षुण्ण रख सकता था। लेकिन विधि-विपाक से प्लान बनाना छोड़कर मैंने काम करना शुरू कर दिया। एक तो पिता के देहान्त के बाद ही मेरे कंधों पर दुनियादारी का बोझ आ पड़ा, दूसरे, एक और झंझट आ जुटी। उसी का किस्सा सुनाता हूँ।

मेरे साथ प्रसन्न नाम का एक लड़का पढ़ता था। वह जैसा बातूनी था, वैसा ही निन्दाशील भी था। हम लोगों की पैतृक साधुता की ख्याति को लेकर उसे खींचा देने का ख़ासा सुयोग मिला। बाबूजी मेरा नाम रख गए थे—सत्यधन। हमारी गरीबी और दारिद्र्य को लक्ष्य करके प्रसन्न कहा करता, "पिता धन देने के समय तो दे गये मिथ्याधन और नाम के लिए दे गये सत्यधन! सो, उसकी जगह अगर धन को सत्य ही देकर नाम को चाहे मिथ्या ही दे जाते तो कोई नुक़सान न होता।" इस प्रसन्न की जीभ से मैं बहुत डरता था।

बहुत दिनों तक उसे नहीं देखा। इस बीच बर्मा, लुधियाना, श्रीरंग-पत्तन आदि स्थानों में वह हर तरह के कामों में जुटा रहा। फिर एक दिन अचानक कलकत्ते आकर उसने मुझे पकड़ा। जिसके परिहास से सदा डरता आया था, उसकी श्रद्धा पाना क्या कम भाग्य की बात थी?

वह बोला, "भाई, मैं इतनी बात कहे रखता हूँ, तुम देख लेना, एक दिन अगर तुम दूसरे सेठ मोतीशील या दुर्गाचरण न बन बैठो तो मैं बाज़ार से बाग़ बाज़ार तक सरे-आम दाँतों तले तिनका दबाकर निकलने के लिये राज़ी हूँ!"

प्रसन्न के मुँह से निकली यह बात कितनी बड़ी बात है, इसे वे लोग जो उसके साथ एक ही दर्जे में पढ़े नहीं, वे समझ ही नहीं पायेंगे। इसके अतिरिक्त प्रसन्न ने इस दुनिया की खूब अच्छी तरह से नस पहचानी है। उसकी बात का मूल्य है।

प्रसन्न ने कहा, "कामकाज समझनेवाले आदमी मैंने बहुत देखे हैं, भैया। लेकिन वही लोग सबसे अधिक संकट में फँसते हैं। अक़्ल के जोर पर वे क़िश्त और मात देना चाहते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि ऊपर धर्म भी है। लेकिन तुम में तो मणिकांचन संयोग है, इधर धर्म में दृढ़ हो और उधर कर्म में तुम्हारी बुद्धि का कोई मुकाबला नहीं!"

वक़्त भी ऐसा था कि सब लोग रोज़गार के पीछे पागल थे। सबने जैसे यह निर्णय कर लिया था कि वाणिज्य के अलावा अन्य किसी चीज से देश की उन्नति संभव नहीं। और यह भी सबने निश्चित रूप से समझ लिया था कि सिर्फ अगर पूँजी पास में हो तो वकील, मुख्तार, डाक्टर, शिक्षक, छात्र आदि कोई भी रातों-रात व्यापार फैला सकता है, और उसे चमका सकता है।

"मैंने प्रसन्न से कहा, "मेरे पास पूँजी जो नहीं है।

वह बोला, "अजीब बात करते हो! तुम्हारी पैत्रिक संपत्ति भला कोई कम है। मज़ाक नहीं, भैया! सचाई ही तो लक्ष्मी का सुनहरा कलम है। आदमी के विश्वास पर ही कारबार चलता है, रुपये पर नहीं।"

पिता के समय से ही हमारे घर मुहल्ले की विधवाएँ अपने रुपये जमा कर जाती थीं। वे ब्याज़ की आशा नहीं रखती थीं, सिर्फ इसी से निश्चिन्त रहती थीं कि स्त्री-जाति का रुपया चाहे अन्यत्र डूब जाय, किन्तु हमारे यहाँ उस पर आँच नहीं आ सकती। उसी अमानती रुपये से हमारी स्वदेशी एजेन्सी खुल गई। कपड़ा, क़ागज़, स्याही, बटन, साबुन—जो कुछ जितना मंगवाते बिक्री हो जाता। खरीदार टिड्डी दल की तरह उमड़ने लगे। कहते हैं, विद्या जितनी ही बढ़ती है उतना ही यह अनुभव होता है जैसे कि रुपया है ही कहाँ! मेरे चित्त की ऐसी ही अवस्था में एक दिन प्रसन्न ने कहा, बल्कि मेरे मुँह से कहलवा लिया कि फुटकर दुकानदारी के काम में ज़िन्दगी खपाना बेकार है। जो रोजगार नहीं बढ़ पाता वह वहीं घूम-घुमाकर रह जाता है।

मेरी बात सुनकर प्रसन्न भक्ति से ऐसा गद्गद हो उठा, जैसे ऐसी नई गंभीर ज्ञान की बात उसने पहले कभी सुनी ही नहीं। तब मैंने उसे भारतवर्ष में अलसी के व्यवसाय का सात बरस का हिसाब समझाया। कहाँ किस परिमाण में अलसी जाती है, कहाँ क्या दर है, भाव अगर चढ़ता है तो कितना, और उतरता है तो कितना, खेत में उसका क्या मूल्य है, किसानों के घर ही से ख़रीदकर सीधे विलायत रवाना कर देने पर एक बार में ही कितना मुनाफ़ा होना चाहिए आदि-आदि। कहीं लकीरें खींचकर, कहीं लंबे-लंबे काग़ज़ों के पाँच-सात सफे भर कर जब मैंने प्रसन्न के हाथों में थमा दिये, तब वह मेरे पैरों की धूलि न ले तो और क्या करे। कहने लगा, "मन में सोचता था कि मैं थोड़ा-बहुत तो यह सब समझता हूँ, लेकिन आज से भैया, मैं तुम्हारा चेला हुआ!"

किन्तु थोड़ा-सा प्रतिवाद भी उसने किया; कहा, "यो ध्रुवाणि परित्यज्य"—याद है न? कौन जाने, हिसाब में भूल भी तो हो सकती है!"

सुनते ही मुझे ज़िद सवार हो गई। कागज़ पर कागज़ रंगकर मैंने इसके अकाट्य प्रमाण दे डाले कि भूल नहीं हुई है। जितनी तरह के नुक़सान मुमकिन हो सकते थे, उन सबको क़तार में खड़े करके मैंने उसे दिखला दिया कि मुनाफे को किसी भी तरह बीस-पचीस फ़ीसदी से नीचे उतारा ही नहीं जा सकता। इस तरह दूकानदारी की पतली नहर बढ़कर जब अंत में व्यवसाय के समुद्र में जा डूबी, तब सब कुछ इसी तरह प्रमाणित हुआ जैसे मेरी ही ज़िद का परिणाम हो।

एक तो दत्तवंश की ईमानदारी, उस पर ब्याज का लाभ। अमानत के रुपये फूल उठे। स्त्रियाँ गहने बेचकर रुपये जमा करने लगीं। काम में एक बार घुस पड़ने के बाद फिर दिशा नहीं मिलती। मेरे योजना में रसभंग होने लगा, फलतः काम में मन को सुख नहीं मिलता। अंतरात्मा को साफ अनुभव होने लगा कि काम करने की क्षमता मुझमें नहीं है, लेकिन इसे कबूल करने की भी क्षमता जो नहीं थी।

संभवतः कामकाज प्रसन्न के हाथों जा पहुँचा। फिर भी सच्चे कार-बार का मैं ही कर्ता-विधाता हूँ—इस बात को छोड़ जैसे प्रसन्न के ओठों पर और कोई बात ही नहीं होती। प्रसन्न की इच्छा और मेरे दस्तख़त, उसकी दक्षता और मेरी पैतृक ख्याति—इन्हीं से मिलकर व्यवसाय चौकड़ी भरता हुआ किस दिशा की ओर बढ़ चला मैं कुछ समझ भी नहीं सका। देखते-देखते ऐसी जगह जा पहुँचा, जहाँ थाह भी नहीं मिलती, कूल-किनारा ही नहीं दीखता। अब अगर सच्चा भेद खोल दूँ तो इससे ईमानदारी की रक्षा तो हो जाती, लेकिन ईमानदारी की ख्याति नहीं चलती। अमानत के रुपयों का ब्याज भरने लगा, लेकिन मुनाफे से नहीं। फलतः ब्याज जोड़-जोड़कर अमानत का परिमाण बढ़ाना शुरू किया।

मेरा ब्याह हुए बहुत दिन हो गये। समझता था घर-गिरस्ती छोड़ और किसी तरफ मेरी स्त्री का ख्याल नहीं है। अचानक लक्ष्य किया कि ऋषि अगस्त की तरह एक चुल्लू में ही समुद्र सोख लेने का लोभ भी उसमें है। पता नहीं कब से यह हवा मेरे ही चित्त से चलकर हमारे समूचे परिवार में बहने लगी थी। घर के नौकर-नौकरानी तक हमारे कारबार में रुपये लगाते जा रहे थे। मेरी स्त्री ने भी मुझे पकड़ा कि वह भी कुछ गहना बेचकर मेरे रोजगार में रुपये लगा देगी। मैंने भर्त्सना की, उपदेश दिया, कहा, "लोभ के समान शत्रु दूसरा नहीं।" उसका रुपया मैंने नहीं लिया।

और भी एक व्यक्ति के रुपये मैं नहीं ले पाया। अनु एक बच्चे की माता होकर विधवा हो गई थी। उसके स्वामी की ख्याति यह थी कि वह जितना ही धनी था उतना ही कृपण। कोई कहता, उसका डेढ़ लाख रुपया है, कोई कहता, इससे भी अधिक है। लोगों में चर्चा थी कि कंजूसी में अनु अपने पति की सहधर्मिणी है। मैं भी सोचता, सो तो होगा ही। अनु को कोई अच्छी शिक्षा या संग तो मिला नहीं।

उन रुपयों को कहीं लगा देने के लिए उसने मेरे पास अनुरोध पहुँ-

चाया था। मुझे लोभ हो आया, जरूरत भी खूब थी, लेकिन मारे भय के उससे मिलने तक नहीं गया।

एक बार किसी बड़ी हुंडी की मियाद आ पहुँचने पर प्रसन्न ने मुझसे कहा, "अखिलबाबू की लड़की के रुपये लिये बिना इस बार नहीं चलेगा। उसे देखकर मैं तो सेंध मारने तक के लिए तैयार हो सकता हूँ।"

मैंने कहा, "जैसी स्थिति है वह तो है ही लेकिन वह रुपया मैं नहीं ले सकता।"

प्रसन्न बोला, "जब से तुम्हारा भरोसा मिट गया है तभी से बार-बार नुकसान में चला आ रहा है। तकदीर ठोकने से ही तकदीर की ताकत को बढ़ावा मिलता है।"

लेकिन मैं किसी तरह भी राजी न हुआ। दूसरे दिन प्रसन्न आकर बोला, "दक्षिण से एक विख्यात महाराष्ट्र ज्योतिषी आया है, कुण्डली लेकर पास चलो।"

सनातन दत्त के कुल में कुण्डली दिखाकर भाग्य की परीक्षा! दुर्बलता के दिनों में मानव प्रकृति के भीतर सोया आदिम बर्बर मौका पाकर उठ बैठता है। जो दृष्ट है वह जब भयंकर हो उठता है, तब जो अदृष्ट है, उसी को छाती से लगाने की इच्छा होती है। बुद्धि पर भरोसा करके शान्ति नहीं पा रहा था, इसी से निर्बुद्धिता की शरण ली। जन्म-मुहूर्त और सन्-तारीख लेकर गणना कराने चला। वहाँ बताया गया कि मैं सत्यानाश की अंतिम कगार तक आ पहुँचा हूँ। किन्तु इस समय बृहस्पति अनुकूल हैं, किसी स्त्री के धन की सहायता से मेरा उद्धार करके अतुल ऐश्वर्य दिला देंगे।

इसमें प्रसन्न का हाथ हो सकता है, ऐसा संदेह मेरे मन में उपज सकता था, लेकिन संदेह करने की किसी भी तरह इच्छा नहीं हुई। घर लौटने पर मेरे हाथ में एक किताब थमाकर प्रसन्न बोला, "खोलो तो भला!" खोलते ही जो सफा निकला उस पर अंग्रेजी में लिखा हुआ था, "अद्भुत सफलता है।"

उसी दिन अनु को देखने गया।

पति के साथ देहात लौट जाने के बाद से बराबर मलेरिया होने के कारण अनु की हालत ऐसी हो गई कि डाक्टरों को डर था कहीं क्षय ने तो नहीं पकड़ लिया है। कोई अच्छी जगह जाने की बात चलाते ही वह कहती, "मैं आज, नहीं तो कल मर जाऊँगी, लेकिन अपने इस सुबोध का पैसा क्यों बरबाद करूँ ?"

मैंने जाकर देखा, अनु के रोग ने उसे संसार से जैसे अलग कर दिया है। मानों मैं उसे बहुत दूर से देख पा रहा था। उसकी देह संपूर्ण स्वच्छ हो गई और उसके भीतर से जैसे एक आभा-सी निकल रही हो। जो कुछ स्थूल है उसे नष्ट करके उसके प्राण मृत्यु के बाहरी द्वार पर स्वर्गीय प्रकाश में आ खड़े हुए थे। और उसकी करुण आँखों की घनी पलकें आँखों के नीचे कालिमा झलक आने से ऐसा जान पड़ता था मानो उसकी दृष्टि पर आज अपने जीवन की संध्या की छाया उतर आई हो। मैं स्तब्ध रह गया। आज वह देवी के समान जान पड़ी।

मुझे देखकर अनु के मुख पर एक शान्त प्रसन्नता खेल उठी। वह बोली, "कल रात ही से जब मेरी बीमारी बढ़ रही थी, मैं तुम्हारी बात सोच रही हूँ। परसों भैया-दूज है, उस दिन तुम्हें आखिरी बार भैया-दूज का टीका लगा जाऊँगी।"

रुपये की कोई बात मैंने नहीं कही।

सुबोध को बुलवाया। उसकी उम्र लगभग सात बरस होगी, आँखें ठीक माँ की ही तरह थीं। न जाने कैसा एक क्षणिकता का भाव उसके साथ जुड़ा हुआ था, मानो पृथिवी उसे पूरे परिमाण में स्तन्य देना भूल गई हो। मैंने उसे गोद में खींचकर उसका माथा चूम लिया। वह चुपचाप मेरे मुँह की ओर ताकता रह गया।

× × ×

प्रसन्न ने पूछा, "क्या हुआ ?"

मैंने कहा, "आज वक्त ही नहीं मिला।"

वह बोला, "मियाद के अब सिर्फ नौ ही दिन बाकी हैं।"

अनु का वह मुख--मृत्यु सरोवर का वह कमल—देखने के बाद सत्यानाश की मूर्ति मुझे उतनी भयंकर नहीं जान पड़ रही थी।

कुछ दिनों से हिसाब-किताब देखना मैंने छोड़ ही दिया था। कहीं कोई कुछ-किनारा जो नहीं दिखाई देता, इसी डर से आँखें मूँदे रहता। हताशभाव से बराबर दस्तख़त भर किये जाता, समझने की कोशिश ही न करना। भैया-दूज के दिन सवेरे ही हिसाब का खाता लेकर प्रसन्न ने ज़बर्दस्ती मुझे कारबार की वर्तमान अवस्था समझा दी। मैंने देखा, मूल-धन का समूचा पेंदा बैठ गया है। इस समय कर्ज का आधार न लेने से नैया डूब कर ही रहेगी।

कौशलपूर्वक रुपयों की बात चलाने का उपाय सोचता हुआ मैं भैया-दूज के निमंत्रण के लिए चला। उस दिन बृहस्पतिवार था। हतबुद्धि की चोट से आज बृहस्पतिवार से भी डरता। जो मनुष्य हतभाग्य होता है, वह अपने भीतर बुद्धि छोड़ और कुछ भी न मानने का बल नहीं पैदा कर पाता। जाते समय मन बहुत बिगड़ गया था।

अनु का बुखार बढ़ गया था। देखा, वह बिछौने पर पड़ी थी। नीचे फर्श पर सुबोध चुपचाप अँग्रेज़ी के एक सचित्र अख़बार से चित्र काट-काटकर कापी में चिपका रहा था। अशुभ मुहूर्त बचाने के लिये मैं वक्त से बहुत पहले आ गया था। स्त्री को भी साथ लाने की बात थी, लेकिन उसके मन के किसी कोने में अनु के संबंध में कुछ ईर्ष्या-जैसी चीज शायद संचित थी, इसीलिए जाने के समय उसने कुछ बहाना कर लिया। मैंने भी जबर्दस्ती नहीं की।

अनु ने पूछा, "भाभी नहीं आई?"

मैंने कहा, "तबीयत अच्छी नहीं थी।

अनु ने तनिक-सी साँस छोड़ी।

मेरे अंतर में एक दिन माधुर्य आविर्भूत हुआ था, उसे आज अपने सुनहरे प्रकाश में गलाकर शरद् के आकाश ने इस रोगी के बिछौने पर

बिखरा दिया। कितनी ही बातें आज जाग उठीं। कितने ही दिनों की वे अत्यंत छोटी-छोटी-सी बातें मेरे आसन्न सर्वनाश को कहीं पीछे छोड़कर आज सहसा इतनी बड़ी हो उठीं। कारबार का हिसाब भूल ही गया।

भैया-दूज का न्यौता खाया। मेरे मस्तक पर मृत्युतीर्थ के उस यात्री ने अपने ही हाथों मेरी दीर्घायु की कामना करते हुए टीका लगाकर मेरे पाँवों की धूल ली। मैंने उसके अनदेखे अपनी आँखें पोंछ लीं।

कमरे में आकर बैठने पर अनु ने एक टीक का सन्दूक मेरे सामने रखवाया। कहा, "सुबोध के लिए जो कुछ इतने दिन सहेज-सहेजकर रखा है, उसे आज तुम्हें सौंपती हूँ और उसी के साथ सुबोध को भी तुम्हारे ही हाथों में दिये जाती हूँ। अब निश्चिंत होकर मर सकूँगी।"

मैंने कहा, "अनु, दुहाई है, रुपये मैं नहीं ले सकूँगा। सुबोध की देख-भाल में कभी कोई त्रुटि नहीं होगी, लेकिन रुपये तुम और किसी के पास रख जाना।"

अनु बोली, "इन रुपयों के लिए कितने ही लोग हाथ पसारे बैठे हैं। क्या उन्हीं के हाथों सौंप जाने को कह रहे हो?"

मैं चुप हो रहा। अनु ने कहा, "एक दिन ओट से सुन पाई थी कि डाक्टर का मत है, सुबोध के शरीर के जैसे लक्षण हैं, उनसे उसके बहुत दिन जीने की आशा नहीं की जा सकती। जब से यह सुना है, तब से सिर्फ़ यही डर लगा रहता है कि मेरे मरने में देरी न हो जाय। लेकिन आज कम से कम यही आशा लिये हुए मरूँगी कि डाक्टरों की बात गलत भी तो हो सकती है। सैंतालिस हज़ार रुपया कम्पनी के हिसाब मेंज मा—कुछ और भी इधर-उधर पड़ा है। इस रुपये से सुबोध का पथ्य और इलाज अच्छी तरह चल सकेगा। और अगर भगवान उसे जल्दी ही खींच लें तो यह रुपया उसी के नाम किसी अच्छे काम में लगा देना।

मैंने कहा, "अनु, तुम मुझपर जितना विश्वास करती हो उतना मैं अपने पर नहीं करता।" यह सुनकर अनु थोड़ा-सा हँस दी। ऐसी बात सच होने पर भी मेरे मुँह से मिथ्या विनय के समान ही जान पड़ती है।

मैंने कहा, "मैं नहीं जानता—जो होना है हो, लेकिन यह रुपया मेरे रोजगार में नहीं लग सकेगा।"

प्रसन्न बोला, "तब तुम्हारे क्रिया-कर्म में लगेगा!"

अनु की मृत्यु के बाद सुबोध ने मेरे घर आकर मेरे पुत्र नित्यधन को अपने साथी के रूप में पाया।

जो लोग कहानी-उपन्यास के अभ्यस्त पाठक हैं, उनकी धारणा है कि आदमी के चित्त के सभी बड़े-बड़े परिवर्तन धीरे-धीरे ही घटा करते हैं। बात दरअसल उल्टी है। फूस को आग पकड़ते शायद वक्त लगता है, लेकिन बड़े-बड़े अग्निकांड पल भर में ही धधक उठते हैं। यदि मैं कहूँ कि थोड़ी-सी अवधि में देखते-देखते मेरे चित्त में सुबोध के प्रति गहरा विद्वेष भड़क उठा तो लोग मुझसे इसकी कैफियत तलब करेंगे। सुबोध अनाथ है, बड़ा दुर्बल शिशु है, देखने में बहुत ही प्यारा है—और इस सबके अतिरिक्त सुबोध की माँ स्वयं अनु थी, किन्तु यह सब होते हुए भी उसकी बातचीत, चलना-फिरना, खेल-कूद ये सभी मुझे दिन-रात खोंचा-सा देने लगे।

वास्तव में समय बड़ा खराब गुजर रहा था। उसका रुपया किसी तरह भी नहीं लूँगा, यही मेरा प्रण था, लेकिन हालत बिल्कुल ऐसी थी कि बिना लिये काम ही नहीं चल सकता था। अंत में एक दिन महाविपद में पड़ कर कुछ लेना ही पड़ा। इससे मेरे मन का यन्त्र कुछ ऐसा बिगड़ गया कि सुबोध को मूँह दिखाना भी मेरे लिए कठिन हो उठा। पहले तो मैं बचता रहा, लेकिन बाद में उस पर क्रोध प्रकाशित होने लगा।

क्रोध का सबसे प्रथम उपलक्ष्य हो उठा सुबोध का स्वभाव। मैं ठहरा व्यस्त और कामकाजी आदमी, हर वक्त जल्दी में रहना मेरा अभ्यास था। उधर सुबोध का जाने कैसा अलस-सा भाव रहता, कुछ पूछने पर जैसे उसे सहसा कोई जवाब ही खोजे नहीं मिलता। मालूम होता, मानो जहाँ वह है वहाँ दर-असल है ही नहीं, और कहीं है। रास्ते की ओर खिड़की के सींखचे पकड़कर खड़े-खड़े वह घंटों गुजार देता, क्या देखा या सोचा करता,

वही जाने। मुझसे यह नहीं सहा जाता। सुबोध बहुत दिन रुग्ण माता के निकट रहकर बड़ा हुआ था, उसका कोई समवयस्क साथी नहीं था इसलिए अपने ही निराले मन के साथ खेलता आया था। इस प्रकार के बच्चों की सबसे बड़ी मुश्किल यह होती है कि जब उन्हें किसी तरह का दुःख होता है, तो अच्छी तरह जरा रो सकें, यह भी उन्हें नहीं आता और दुःख को कैसे भुला सकें, यह भी वे नहीं जानते। इसी कारण सुबोध को तत्काल कोई जवाब नहीं मिलता और न कोई काम सौंपने पर उसकी याद ही रहती। उसकी चीजें बराबर खो जातीं। उसे अगर डाँटो भी तो केवल मुँह की तरफ ताकता रह जाता—जैसे इस तरह ताकते रहना ही उसकी रुलाई हो। मैं कहने लगा, "मेरे लड़के के सामने इसका उदाहरण उपयुक्त नहीं है।" फिर भी कठिनाई यह थी कि सुबोध मेरे लड़के नित्य को वह खूब भा गया था। नित्य की प्रकृति बिल्कुल दूसरी होने के कारण ही शायद सुबोध की ओर उसका खिंचाव बढ़ गया था।

दूसरे के स्वभाव का सुधार-संशोधन करना तो मेरा मुख्य कार्य रहा है। इस काम में मेरी पटुता जैसी थी, उत्साह भी वैसा ही था। सुबोध का स्वभाव कर्म-पटु नहीं है, इसी कारण मैं उससे ज्यादा काम-काज कराने लगा। वह जितनी बार भूल करता, उतनी ही बार मैं उसी के द्वारा उसकी भूलों को सुधरवाया करता। उधर उसकी और भी एक आदत थी जो उसकी माँ की भी थी—वह अपने और अपने आसपास के सभी कुछ की तरह-तरह से कल्पना किया करता था।

खिड़की के सामने जो जमरुल का पेड़ लगा था, उसको उसने जाने-क्या एक अजीब-सा नाम दिया था। पत्नी से सुनने में आया कि वह वहाँ अकेला खड़ा-खड़ा पेड़ से बातें किया करता था। बिछौने को मैदान और तकिये को गायों की कतार कल्पित करके कमरे के भीतर ही ग्वाले का अभिनय करना कितना मिथ्या है, यह बात उसी के मुँह से कुबूल कराने की मैंने बहुत चेष्टा की, लेकिन उसने कभी जवाब ही नहीं दिया। मैं उस पर जितना ही शासन करता, मेरे निकट उसकी त्रुटियों की संख्या उतनी

ही बढ़ती जाती। मुझे देखते ही वह जैसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता। मेरी सीधी-सी बात भी उसकी समझ में न आ पाती।

और कुछ नहीं, बात यह है कि हृदय यदि अप्रसन्न होना शुरू करे और अपने को सँभाल लेने योग्य कोई धक्का बाहर से उसे सचेत न कर दे, तो अप्रसन्नता स्वयं ही अपने आपको बढ़ाती चलती है—किसी नये कारण की जरूरत उसे नहीं होती। अगर किसी ऐसे व्यक्ति को मैं दो-चार बार मूर्ख कहूँ जिसमें जवाब देने की हैसियत ही न हो, तो वही दो-चार बार का कहना पाँचवीं बार के कहने की सृष्टि करेगा। किसी और उपकरण की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। सुबोध से सिर्फ बार-बार परेशान होने का मुझे कुछ ऐसा अभ्यास हो गया था कि उसे दूर करना मेरे वश की बात ही नहीं रह गयी थी।

इसी तरह पाँच बरस कट गये। जब तक सुबोध बारह बरस का हुआ, तब तक उसके कंपनी के कागज और गहने वगैरह सब क्रमशः गलकर मेरे बहीखाते के सफ़ों पर सियाही से लिखे कुछ हरफों में परिणत हो गये। मैंने मन को यह कहकर बहलाया कि अब तो अपने वसीयतनामे में रुपये मुझे दे ही गई है। बीच में सुबोध है, लेकिन वह तो छाया है, जैसे है ही नहीं। जिस धन को एक दिन मैं ही पाने वाला हूँ, उसे सबसे पहले खर्च करना अधर्म नहीं हो सकता।

मुझे बचपन से वात की व्याधि थी। कुछ दिनों से वह बहुत बढ़ उठी थी। जो आदमी कामकाजी होता है, उसे शान्त बिठा रखने से वह अपने आस-पास के सभी आदमियों को अशान्त करके ही मानता है। इसलिए मेरी व्याधि के दिनों में मेरी स्त्री, लड़का, सुबोध, घर के नौकर-चाकर किसी को चैन नहीं रहता।

इधर जिन परिचित विधवाओं ने मेरे यहाँ रुपये जमा किये थे, उन्हें पिछले कुछ महीनों से ब्याज नहीं दिया जा रहा था। पहले मैंने ऐसा कभी नहीं होने दिया था। इसीलिए उन्होंने तकाजा करना शुरू कर दिया। मैं प्रसन्न को हिदायत करता, वह बराबर दिन टरकाता जाता। अन्त में

जिस दिन बिल्कुल निश्चित रूप से देने की बात थी उस दिन सुबह से ही लेनदारों ने बाहर आसन जमा दिया। इधर प्रसन्न का पता नहीं।

नित्य को बुलाकर कहा, "सुबोध को पुकारो तो।"

वह बोला, "सबोध सो रहा है।"

मैं अत्यन्त क्रुध होकर बोला, "सो रहा है ? ग्यारह बज गये अभी तक सो रहा है।"

सुबोध ऊँगता-ऊँघता आ खड़ा हुआ। मैंने कहा, "प्रसन्न जहाँ मिले बुला लाओ।"

हमेशा मेरी जरा-जरा सी फरमाइशें पूरी करने के लिये दौड़ते-दौड़ते इन सब कामों में सुबोध पक्का हो गया था। किसे कहाँ खोजना होगा सभी उसका जाना हुआ था।

दोपहर के एक बज गये, दो बजे, तीन बज चुके—सुबोध नहीं लौटा। यहाँ जो लोग धरना देकर बैठे थे, उनकी भाषा का उत्ताप और वेग दोनों बढ़ते जा रहे थे। दिन ज्यों-ज्यों बीतते, सुबोध की ढिलाई मानो उतनी ही बढ़ती जा रही थी। आजकल तो वह अगर बैठ जाये तो फिर उठना नहीं चाहता। किसी किसी दिन देखता हूँ साँझ के पाँच ही बजे वह बिस्तर पर ढुलक जाता है। सुबह उसे जबर्दस्ती उठाना पड़ता। चलते समय इतने धीमे से चलता जैसे पैर से पैर जकड़ गया हो। मैं सुबोध को कहा करता, "जनम-आलसी, आलसियों के महामहोपाध्याय !" वह लजा-कर चुप हो जाता।

एक दिन उससे मैंने पूछा, "अच्छा कहो तो भला, प्रशान्त महा-तागर के बाद और कौन-सा महासागर है ?" वह जवाब नहीं दे पाया। ो मैंने कहा, "उसके बाद तो तुम हो—आलस्य महासागर !" यथा-भव सुबोध कभी मेरे पास रोता नहीं, लेकिन उस दिन उसकी आँखों झर-झर आँसू झरने लगे। वह मेरी डाँट और बकझक सह लेता था, केन उसका मजाक बनाना उसके मर्म में जा चुभता।

दिन ढल गया, रात हो आयी। कमरे में किसी ने रोशनी नहीं की।

मैंने चिल्ला-चिल्लाकर पुकारा किसी ने उत्तर नहीं दिया। घर में सभी पर मुझे क्रोध हो आया। इसके बाद अचानक मुझे संदेह हुआ कि प्रसन्न ने सूद के रुपये सुबोध के हाथ दिये हैं और सुबोध उन्हीं को लेकर चंपत हो गया है। इस घर में सुबोध आराम से नहीं रहता, यह बात तो मेरी जानी हुई है। बचपन ही से आराम नामक वस्तु को अन्याय ही गिनता आया हूँ – खासकर बच्चों के मामले में। अतएव इस तरफ से मेरे मन में कोई परिताप नहीं था। किन्तु इसीलिए सुबोध रुपये लेकर खिसक जायगा यह कभी सोचा तक नहीं था। मैं उसे अकृतज्ञ कहकर, मन ही मन फटकारने लगा। उसी उम्र में इसने चोरी करना शुरू कर दिया इसकी क्या गति होगी? सुबोध रुपये चुराकर ही गायब हुआ है इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं रहा। इच्छा हुई, अभी दौड़कर जहाँ मिले वहाँ से उसे पकड़ लाऊँ और खूब कसकर उसकी पूजा करूँ। तभी अँधेरे कमरे में सुबोध ने प्रवेश किया। उस समय मुझे इतना क्रोध आया कि मुँह से बात भी नहीं निकली। वह बोला, "रुपये नहीं मिले।"

मैंने उसे रुपये लाने के लिये तो कहा नहीं था तब वह क्यों कहता है कि रुपये नहीं मिले! जरूर ही हड़प लिये हैं—कहीं छिपा आया है। भले बनने वाले छोकरे ही परले दर्जे के शैतान होते हैं। मैंने गला साफ करके कहा, "रुपये निकाल दे!"

वह भी उद्धत होकर बोल उठा, "नहीं, नहीं दूँगा, तुम जो कर सकते हो, कर लो!"

मैं अब कतई अपने को संभाल नहीं पाया। हाथ ही के पास लाठी थी, भरपूर ताकत से उसके सिर पर दे मारा। वह धड़ाम से गिर पड़ा। तब मैं घबरा उठा, उसका नाम लेकर आवाज दी, कोई जवाब नहीं। टटोल कर देखा, जाजिम भींग गई है। यह तो खून है। धीरे-धीरे खून बढ़ने लगा—जहाँ मैं था उसके आस पास खून फैल गया। खुली खिड़की के बाहर की ओर संध्या का तारा दिखाई पड़ रहा था—मैंने चटपट वहाँ से अपनी दृष्टि लौटा ली। पता नहीं क्यों मुझे ऐसा लगा मानों वह

संध्या का तारा भैया-दूज का वही चन्दन का टीका है। सुबोध पर मेरा इतने दिन का अन्याय-विद्वेष सब कुछ पल भर में ही छिन्न हो गया। वह तो अनु के हृदय का वैभव है, मां की गोद से भ्रष्ट होकर मेरे हृदय में राह खोजता हुआ यहाँ पहुँचा है। मैंने यह क्या किया.....! क्या किया! भगवान, तुमने मेरी यह कैसी मति कर दी। मुझे रुपयों की भला जरूरत ही कौन-सी थी! अपना समूचा कारबार नष्ट करके यदि संसार में केवल इसी रुग्ण बच्चे के निकट मैं अपना धर्म रख पाता, तो बच जाता।.....

क्रमशः डर लगने लगा कि कहीं अभी कोई आ न पहुँचे, कहीं पकड़ न जाऊँ। इच्छा हुई कि कोई आ न जाये—रोशनी न ले आये, यह अँधकार पलभर के लिए भी न सिरे, कल सूरज ही न निकले, संसार बिलकुल मिथ्या होकर—इसी प्रकार निविड़ काला होकर—मुझे और इस बालक को सदा के लिये इसी तरह डुबा रखे कि तभी किसी के पैरों की चाप सुनाई पड़ी। ऐसा जान पड़ा कि जैसे किसी न किसी अनिवार सूत्र से पुलिस को खबर लग गई है। कौन-सी झूठमूठ कैफियत हाजिर करूँगा, चटपट सोचने की कोशिश की, लेकिन चित्त कुछ सोच ही न पाया।

भड़भड़ाकर दरवाजा खुल गया, कमरे में जाने किसने प्रवेश किया। मैं सिर से पैर तक काँप उठा, तब भी धूप ढली नहीं थी। असल में मुझे नींद लग गई थी, सुबोध के कमरे में प्रवेश करने के साथ ही नींद टूटी है।

सुबोध हाटखोला, बड़ा बाजार, बैलेघाटा आदि मुहल्लों में जहाँ-जहाँ प्रसन्न को पाने की उम्मीद थी वहाँ-वहाँ समूचा दिन खोजता रहा किसी भी तरह उसे जो ला नहीं पाया, उसी भय-से, अपराध की छाया, से, उसका मुख विलीन हो गया था। इतने दीर्घ काल के बाद मैंने देखा कैसा सुन्दर मुख है, कैसी करुणा से पूरित उसकी दोनों आँखें हैं।

'मैंने कहा, आ बेटा सुबोध, मेरी गोद में आजा!"

वह मेरी बात समझ ही नहीं पाया, समझा शायद ...

कर रहा हूँ। आँखें फाड़कर नादान की तरह पल भर मेरे मुँह की ओर ताकता रहा, फिर सहसा मूर्छित होकर गिर पड़ा।

पलक मारते ही मेरी वातगत पंगुता जाने कहाँ विलीन हो गई। मैंने दौड़कर उसे गोद में उठाकर बिछौने पर डाला। सुराही में पानी था, मुँह तथा सिर पर पानी के छींटे मारने पर भी उसे होश नहीं आया। डाक्टर को बुलवा भेजा। डाक्टर ने आकर जाँच करके बहुत आश्चर्य प्रकट किया और कहा, यह तो एकबारगी थकान की आखिरी हद पर आ पहुँचा है। आखिर ऐसा हुआ कैसे।

मैंने कहा, "आज किसी वजह से उसे सारे दिन मेहनत करनी पड़ी है।

वे बोले, "यह तो एक दिन का काम नहीं है। संभवतः बहुत दिनों से इसको क्षय हो गया है, कभी किसी ने ख्याल नहीं किया?"

उत्तेजक दवा और पथ्य देकर डाक्टर उसे होश में लाकर चले गये और कहते गये, "अगर बड़े जतन से बच जाय तो बच जाय, लेकिन इसकी देह में प्राणशक्ति बिलकुल चुक गई है। लगता है, आखिर के कुछ दिनों से यह बच्चा बिल्कुल मन के जोर से ही चलता-फिरता रहा है।"

मैं अपना रोग भूल गया। सुबोध को अपने बिछौने पर सुलाकर रात-दिन उसकी सेवा में लग गया। डाक्टर की फीस के इतना रुपया भी घर में नहीं था। स्त्री के गहने का बक्स खोला, वही पन्ने की कंठी, उसे देखकर कहा, "इसे तुम रक्खो।" बाकी को बंधक रखकर मैं रुपये ले आया।

लेकिन रुपये से तो मनुष्य बचता नहीं। उसके प्राणों को इतने दिनों से कुचल-कुचल कर मैंने बिलकुल खत्म कर दिया था। स्नेह के लिए खाद्य से उसे दिन पर दिन वंचित ही रखता आया था, वही जब आज हृदय में परिपूर्ण भरकर मैंने उसके निकट रखा, तब वह [illegible] पाया। खाली हाथ वह अपनी माँ के पास लौट गया।